वेदसिद्धांतनिर्णय

विविध वैदिक विषयों पर विवेचन

॥ तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

कपिल सांख्ययोग अनुसन्धान केन्द्र

ओ३म्

वेदसिद्धान्तनिर्णयः

[विविध वैदिक विषयों पर विवेचन]

कपिल सांख्ययोग अनुसन्धान केन्द्र

॥ विषय सूची ॥

सांख्येश्वरनिर्णय	१-३९
देवतानिर्णय	४०-७३
मोक्षनिर्णय	७४-११८
बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्	११९-१३९

॥ सांख्येश्वरनिर्णय ॥

आर्यावर्तीय दार्शनिक परम्परा अनादिकाल से परम तत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त रही है। यहाँ दर्शन का प्रयोजन केवल बौद्धिक कौतूहल की तुष्टि न होकर जीव के दुःखनिवृत्ति तथा मोक्षसिद्धि का मार्ग प्रशस्त करना रहा है। इस महान चिन्तनधारा में विविध दर्शनों ने अपने-अपने अभिप्राय से जगत्, जीव तथा परमसत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण किया है। 'तेषु षड्दर्शनानां मध्ये सांख्यदर्शनं प्राचीनत्व' तत्त्वमीमांसात्मकता तथा युक्तिपरकता की दृष्टि से विशेष गौरव का अधिकारी माना गया है।

सांख्यदर्शन का मुख्य प्रयोजन सृष्टि के तत्त्वों का संख्यानुसार विवेचन कर प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करना है। इस दर्शन में प्रकृति को समस्त कार्यजगत् का मूल कारण तथा पुरुष को चेतन साक्षीस्वरूप तत्त्व माना गया है। प्रकृतिपुरुषविवेक के माध्यम से जीव के बन्धन तथा मोक्ष का निरूपण करना ही सांख्य का प्रमुख अभिप्राय है।

तथापि सांख्यदर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से एक विशेष प्रकार का मतभेद प्रचलित रहा है। कतिपय विद्वान् सांख्य को निरीश्वरवादी दर्शन के रूप में निरूपित करते रहे हैं तथा यह प्रतिपादन करते हैं कि सांख्यदर्शन जगत्सृष्टि के निमित्त ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उत्तरकालीन कतिपय भाष्यकारों तथा व्याख्याताओं ने सांख्यकारिका के 'सांख्य विरुद्ध' वचनों के आधार पर इस मत का प्रतिपादन किया, मेरे अनुसार इसका नाम सांख्यकारिका ना होकर असांख्यकारिका होना चाहिए। क्योंकि इसने कारिका में जो मूल सांख्य के विरूद्ध जो 'मुंह से मल' किया है वह किसी भी प्रकार सांख्य परम्परा में स्वीकार्य योग्य नहीं है। और इन्ही मल रूपी पुस्तकों के परिणामस्वरूप सामान्य विद्वत्समाज में यह धारणा स्थिर होती चली गई कि सांख्यदर्शन स्वभावतः ईश्वरनिरपेक्ष है।

किन्तु यदि सांख्यदर्शन की मूल परम्परा, कपिलमुनिप्रदत्त उपदेश, महाभारत तथा गीता आदि ग्रन्थों का सम्यगवलोकन किया जाए, तो यह निष्कर्ष सर्वथा निर्विवाद प्रतीत नहीं होता। सांख्यदर्शन का उद्गम जिन महर्षि कपिल से स्वीकार किया जाता है, भारतीय परम्परा में उनका स्वरूप केवल दार्शनिक आचार्य के रूप में ही नहीं, अपितु दिव्यदर्शी तत्त्वज्ञ ऋषि के रूप में प्रतिष्ठित है। प्राचीन ग्रन्थों में कपिलप्रणीत सांख्य का

जो स्वरूप प्रतिपादित हुआ है, वह केवल तत्त्वगणना तक सीमित न होकर परम तत्त्व की प्राप्ति का साधनरूप ज्ञानमार्ग के रूप में प्रकट होता है।

विशेषतया यह उल्लेखनीय है कि मूल सांख्यपरम्परा में ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण माना गया है। सांख्यदर्शन जहाँ प्रकृति को जगत् का उपादान कारण स्वीकार करता है, वहीं सृष्टि के प्रवर्तन और नियमन के लिए चेतन तत्त्व की आवश्यकता का प्रतिषेध नहीं करता। यदि प्रकृति सर्वथा जड़ है, तो उसकी सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध तथा उद्देश्यपूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया किसी चेतन नियामक सत्ता के अभाव में किस प्रकार सम्भव हो सकती है? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है। प्राचीन सांख्यपरम्परा इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं करती, अपितु अनेक स्थलों पर प्रकृति के प्रवर्तन में चेतन सान्निध्य की स्वीकृति प्रदान करती है।

दर्शन में उपादान तथा निमित्त कारण का भेद सुप्रसिद्ध है। उपादान कारण वह तत्त्व है जिससे सृष्टि की सामग्री का उद्भव होता है, तथा निमित्त कारण वह है जो सृष्टि के प्रवर्तन, नियमन और व्यवस्था का हेतु होता है। सांख्यदर्शन यदि प्रकृति को उपादान कारण स्वीकार करता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि वह निमित्त कारणरूप ईश्वर की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार करता है, यह दार्शनिक दृष्टि से शीघ्रताजन्य निर्णय प्रतीत होता है। अपितु यह अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि जड़ प्रकृति का सुसंगठित प्रवर्तन किसी चेतन नियामक सत्ता की सन्निधि में ही सम्भव है।

सांख्य को निरीश्वरवादी सिद्ध करने की प्रवृत्ति प्रायः ईश्वर की संकीर्ण परिभाषा पर आधारित रही है। जहाँ ईश्वर को केवल प्रत्यक्ष सृष्टिकर्ता के रूप में सीमित कर दिया गया, वहाँ सांख्य द्वारा प्रकृति की स्वतन्त्र कार्यशक्ति का प्रतिपादन ईश्वरनिषेध के रूप में ग्रहण कर लिया गया। ऐसा प्रतीत होता है मानो कतिपय व्याख्याकारों ने सांख्य के विशाल तात्त्विक भवन का केवल एक अंश दृष्टिगत कर सम्पूर्ण स्वरूप का निर्णय कर लिया हो। दर्शन जैसे गम्भीर विषय में इस प्रकार का एकांगी अवलोकन अनेक भ्रान्त धारणाओं को जन्म देता है।

योगदर्शन और सांख्यदर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध इस विषय में विशेष विचारणीय है। योगदर्शन सांख्य की तात्त्विक संरचना को स्वीकार करते हुए ईश्वर को 'पुरुषविशेष' के रूप में प्रतिष्ठित करता है। यदि सांख्य की मूल प्रवृत्ति ईश्वरनिषेधात्मक

होती, तो योगदर्शन का यह प्रतिपादन दार्शनिक रूप से असंगत होता। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि सांख्य की मूल भावना ईश्वर के प्रतिषेध में न होकर तत्त्वज्ञान की स्वतंत्र स्थापना में ही होगी। भगवद्गीता में सांख्य और योग को एक ही परम सत्य के दो भिन्न मार्गों के रूप में निरूपित किया गया है। गीता में सांख्यज्ञान को ब्रह्मविद्या का अविभाज्य अंग माना गया है तथा उसे भगवान् के तत्त्वज्ञान से पृथक् नहीं किया गया। यदि सांख्य का स्वरूप ईश्वरविरोधी होता, तो गीता में उसे आध्यात्मिक ज्ञानमार्ग के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होना दुरूह प्रतीत होता।

कभी-कभी यह भी प्रतीत होता है कि सांख्य को निरीश्वरवादी सिद्ध करने का प्रयत्न तत्त्वचिन्तन की गम्भीर परम्परा की अपेक्षा वादप्रधान प्रवृत्ति का परिणाम रहा है। कतिपय व्यक्तियों ने सांख्य के कतिपय वचनों को ग्रहण कर यह निष्कर्ष निकाल दिया कि ईश्वर की सत्ता सांख्य में सर्वथा अस्वीकार है। यह स्थिति ऐसी प्रतीत होती है मानो कोई जिज्ञासु समुद्र के तट से जल का स्पर्श मात्र कर उसकी समग्र गहराई का अनुमान कर ले। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इसी जटिल विषय का सम्यक् परीक्षण करना है। इसमें सांख्यदर्शन की मूल परम्परा, कपिलमुनि का तत्त्वोपदेश विवेचन किया जाएगा। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया जाएगा कि सांख्यदर्शन को निरीश्वरवादी मान लेना गलत है। अतः “सांख्येश्वरनिर्णय” विषयक यह लेख भारतीय तत्त्वचिन्तन की समन्वयी परम्परा के आलोक में सांख्यदर्शन के वास्तविक स्वरूप के पुनर्विचार का एक विनीत प्रयास है।

॥ षष्टितंत्र और ईश्वर ॥

सत्त्वरजस्तमसांसाम्यावस्थाप्रकृतिः,प्रकृते महान्महतोऽहङ्कारः अहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियंतन्मात्रभ्येःस्थूलभूतानिपुरुषः इतिपञ्चविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥ [षष्टितन्त्र १/६१]

भाष्य— सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था अर्थात् समानभाव से रहने का नाम “प्रकृति" है अर्थात् कार्य को प्राप्त न होने वाले उक्त तीनों गुणों का नाम "प्रकृति” है, जो अन्य पदार्थों का उपादानकारण हो अर्थात् जिससे पदार्थों की उत्पत्ति हो उसको “प्रकृति” कहते हैं । प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त और उक्त तीनों गुणों की साम्यावस्था, यह

सब पर्याय शब्द हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व=बुद्धितत्त्व अर्थात् प्रकृति का प्रथम कार्य उत्पन्न हुआ, महत्तत्त्व से अहङ्कार अहङ्कार=बुद्धितत्व का एक विशेष परिणाम, अहङ्कार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह पञ्चतन्मात्र, और श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा, घ्राण यह पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाळू, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, यह पांच कर्मेन्द्रिय और मन उत्पन्न हुआ, सांख्य सिद्धान्त में उक्त दशों को बाह्येन्द्रिय और मन को आभ्यन्तर इन्द्रिय कहते हैं और शब्दादि पञ्चतन्मात्रों से यथाक्रम आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, यह पांच स्थूलभूत उत्पन्न हुए, **पुरुष शब्द से जीव ईश्वर दोनों का ग्रहण है**, पुरुष न किसी का कारण और न कार्य है, उसका ग्रहण यहां केवल सांख्य मत में माने हुए तत्वों की संख्या पूरा करने के लिये है, इस प्रकार सांख्य मत में पञ्चविंशति तत्त्व माने हैं।

शंका— पुरुष शब्द से आपने ईश्वर का ग्रहण कैसे किया?
चूंकि चेतन अथवा पुरूष कहने से दोनों ही तत्त्वों जीव और ईश्वर का स्वभावतः ग्रहण हो जाता है। जैसे जड़ जगत कहने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ग्रहण करते हैं ना कि केवल पृथ्वी को कर लिया और अन्य तारामण्डलों को छोड़ दिया जड़ कहने से ही प्रकृति तथा उसके समस्त विकारों का ग्रहण हो जाता है क्योंकि सत्व रज तम जड़ हैं और परमाणु आदि भी जड़ हैं। इसी प्रकार दोनों ही जीव और ईश्वर चेतन हैं दोनों स्वरूपतः एक हैं इसलिए पुरूष से दोनों का ही ग्रहण होगा देखो अथर्ववेद में भी कहा है—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥ [अथर्ववेद १०/२/३०]

व्याख्या— निश्चय से उसे जरावस्था से पूर्व न दृष्टि ना प्राण त्यागता है जो कि शरीर को ब्रह्म की पुरी के रूप में जान लेता है। जिस के सम्बन्ध से ब्रह्म पुरुष कहा जाता है।

उक्त मन्त्र का गम्भीर अवलोकन करने पर यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि वैदिक वाङ्मय में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया गया है। वहाँ पुरुष का तात्पर्य केवल जीवात्मा तक सीमित नहीं रहता, अपितु वह उस परम चेतन सत्ता का भी द्योतक है जिसके अधिष्ठान में समस्त चेतन प्रवृत्तियाँ संचालित होती हैं। वैदिक परम्परा में पुरुष को ब्रह्म का विशेष स्वरूप कहा गया है, जो शरीररूपी पुरी में स्थित होकर उसे चेतना प्रदान करता है। इससे यह संकेत मिलता है कि पुरुष शब्द का प्रयोग बहु चेतन सत्ता के लिए किया जाता रहा है। षष्टितंत्र में 'पुरुष' का ग्रहण केवल तत्त्वसंख्या

की पूर्ति के लिए कहा गया है, तथापि यह कथन केवल संख्यानात्मक औपचारिकता तक सीमित नहीं माना जा सकता। सांख्य का सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तन चेतन और जड़ के द्वैत पर आधारित है। जब चेतन तत्त्व को 'पुरुष' कहा जाता है, तब उसके अन्तर्गत चेतन सत्ता के विविध स्तरों का ग्रहण होता है। जीव और ईश्वर में भेद स्वीकार करने पर भी दोनों को चेतनस्वरूप समान माना गया है। इसी कारण पुरुष शब्द में जीव और ईश्वर दोनों का समावेश स्वीकार किया है।

यदि पुरुष केवल जीवात्मा तक सीमित माना जाए, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीव स्वयं बन्धनग्रस्त और अविद्याग्रस्त होते हुए प्रकृति के सार्वभौमिक संचालन का आधार किस प्रकार बन सकता है। फिर यह कहना कि जीव और प्रकृति के सान्निध्य से सृष्टि बन गया यह तो वही बात है कि जैसे कोई सामान्य चीजों का बोक्ष उठाने वाले गद्हे को कहे कि आज तुम्हें पूरी पृथ्वी उठानी है अथवा यह तो गद्हे पर ब्रह्माण्ड लादने जैसा है। दूसरी बात यह है कि यदि जीवात्मा और प्रकृति के सान्निध्य से सृष्टि बनी तो प्रलयकाल में जीवात्मा बद्ध था या मुक्त? कहोगे मुक्त था तो उसको सृष्टि की आवश्यकता ही क्या? और यदि बद्ध था तो किसके बद्ध था? क्योंकि जगत तो है नहीं?

और बात यह है कि सांख्य में 'पुरुषबहुत्व' को स्वीकार किया है तो कौन सा वह विशिष्ट जीवात्मा था जो प्रकृति के सान्निध्य में आया? अथवा आप जीवात्मा को विभु मानते हैं? जैसा कि 'चुटकीदीपिका' (युक्तिदीपिका) और 'असांख्यकारिका' में माना है? फिर तो आपका मत सांख्य है ही नहीं जो कि मैं ऊपर ही कह आया हूँ यह तो आप केवल सांख्य के नाम पर छद्म मायावाद की दुहाई दे रहे हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति को स्वतन्त्र उपादान कारण स्वीकार किया गया है, किन्तु उसका स्वतः प्रवर्तन स्वीकार नहीं किया है। षष्टितन्त्र के उक्त सूत्र का एक अन्य पक्ष भी विचारणीय है। वहाँ तत्त्वों की गणना करते समय प्रकृति से लेकर स्थूलभूतों तक सम्पूर्ण सृष्टि का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह क्रम अत्यन्त सुव्यवस्थित और तर्कसम्मत है। इस क्रमबद्धता से यह संकेत मिलता है कि सृष्टि केवल अराजक घटनाओं का समूह नहीं है, अपितु उसमें किसी प्रकार की बौद्धिक व्यवस्था निहित है। ऐसी व्यवस्था की स्वीकृति अप्रत्यक्ष रूप से किसी चेतन नियामक सत्ता की सम्भावना को इंगित करती है। और यह बौद्धिक व्यवस्था सांख्य दर्शन की प्राचीन ऋषि कृत व्याख्याओं मे निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। विवाद

का विषय तो यह होना चाहिए की 'ईश्वरकृष्ण' सांख्य की परम्परा से था या 'मायावादी' था क्योंकि कारिका मे तो उसने मायावाद की ही पूंछ पकड़ी है।

सांख्य की तत्त्वमीमांसा में पुरुष की निष्क्रियता का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु यह निष्क्रियता पूर्ण निरपेक्षता का द्योतक नहीं है। पुरुष का सान्निध्य ही प्रकृति में क्रियाशीलता का कारण बनता है। कुछ विद्वानों ने यह आपत्ति प्रस्तुत की है कि सांख्य में ईश्वर का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता, अतः वहाँ ईश्वरस्वीकृति का अभाव है। किन्तु दार्शनिक परम्परा में अनेक बार तत्त्वों का प्रत्यक्ष उल्लेख न होते हुए भी उनका संकेतार्थ स्वीकृत किया गया है। सांख्य का मुख्य उद्देश्य तत्त्वगणना और विवेकज्ञान की स्थापना है। परंतु फिर भी सांख्य में ईश्वर का उल्लेख जिस स्पष्टता से है वैसा उल्लेख तो अन्य दर्शनों मे भी नहीं है। षष्टितन्त्र की शैली सूत्रात्मक है, जहाँ अत्यल्प शब्दों में अत्यन्त व्यापक तत्त्वज्ञान का संकेत किया जाता है। सूत्रग्रन्थों की परम्परा में अनेक तत्त्वों का विस्तार भाष्य और व्याख्या में किया जाता रहा है। इस दृष्टि से पुरुष शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण करना दार्शनिक परम्परा के अनुकूल ही है।

आगे प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण करते हुए भगवान कपिल लिखतें हैं—

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्॥ ८६॥ [षष्टितन्त्र १/८६]

भाष्य— अन्तःकरण के प्रकाशक परिणाम का नाम "वृत्ति" है। जैसे तालाब का जल छिद्रद्वारा निकलकर नालीस्वरूपभूत हुआ क्षेत्र में प्रवेश करके उसके समानाकार होजाता है इसी प्रकार अन्तःकरण भी चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा निकलकर घटादि विषयदेश को प्राप्त हुआ उसके समानाकार परिणाम को प्राप्त होता है इसी का नाम "वृत्ति" है। जब चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होता है तब घटोयम्=यह घट है, पटोयम्=यह पट है, इस प्रकार विषय के समानाकार अन्तःकरण की वृत्ति को "प्रत्यक्ष प्रमाण" कहते हैं।

शंका— योगी को इन्द्रिय सम्बन्ध से बिना भी अतीतानागत वस्तुओं का प्रत्यक्ष होने से उक्त लक्षण योगी के प्रत्यक्ष में नहीं घट सक्ता ? उत्तर—

योगिनामवाह्यप्रत्यक्षत्वान्नदोषः॥ ९०॥ [षष्टितन्त्र १/९०]

भाष्य— योगी को अतीत, अनागत, समीपस्थ तथा दूरस्थ पदार्थों का योगज सामर्थ्य से प्रत्यक्ष होता है अर्थात् इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से विना भी योगज सामर्थ्यद्वारा योगी सर्व पदार्थों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेता है, अतएव कोई दोष नहीं।

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ ९१ ॥ [षष्टितन्त्र १/९१]

भाष्य— अतीतानागत तथा व्यवहित विषयों के प्रत्यक्ष करने के लिये योगी के इन्द्रियों में योगबल से दिव्य शक्ति उत्पन्न होजाती है जिस से उसको अतीतानागत आदि विषयों का प्रत्यक्ष होजाता है। तात्पर्य यह है कि योगद्वारा दिव्यशक्ति वाले योगी के इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होकर प्रत्यक्ष होता है इसलिये प्रयक्ष के लक्षण में उक्त दोष नहीं आता।

शंका— उक्त प्रत्यक्ष ईश्वर को न होगा क्योंकि उसके इन्द्रिय नहीं ? उत्तर—

ईश्वरासिद्धेः ॥ ९२ ॥ [षष्टितन्त्र १/९२]

भाष्य— हमने जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया है वह जन्यप्रत्यक्ष का लक्षण है अर्थात् जो पहले न होकर फिर हो उसको "जन्यप्रत्यक्ष" कहते हैं और ईश्वर में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो न होकर हो क्यों कि उसका ज्ञान नित्य है, इसलिये प्रत्यक्ष की ईश्वरमें असिद्धि नहीं। और बात यह है कि जब वह सर्वशक्तिमान् और सर्वथा स्वतन्त्र है तो फिर उसका ज्ञान पुरुष के समान इन्द्रियों के अधीन नहीं हो सकता, इस प्रकार विवेचन करने से '**ईश्वर में उक्त दोष की सर्वथा असिद्धि है**'।

यही वह सूत्र है जिसके आधार पर निरीश्वर वाद का इतना विशाल भवन खड़ा कर दिया गया है। जबकि क्रम से पूर्वापर सूत्रों पर विचार करें तो यह सिद्धांत यहां ठहरता है कि जिस जन्यप्रत्यक्ष प्रमाण की बात सूत्रकार कहते हैं उस जन्यप्रत्यक्ष प्रमाण की ईश्वर में असिद्धि है, इसकारण यह सूत्र का विशेष रचन हुआ अन्यथा प्रमाणों के लक्षण प्रसंग में ईश्वर को सिद्ध अथवा असिद्ध करना प्रसंगविरूद्ध हो। मुख्य बात यह है कि यह जन्यप्रत्यक्ष ईश्वर में असिद्ध है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियों के अधीन नहीं है।

आगे सांख्य में स्वयं ईश्वर असिद्धि विषयक पूर्वपक्ष रख उसका समाधान करते हैं—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्नतत्सिद्धिः ॥ ९३ ॥ [षष्टितन्त्र १/९३]

भाष्य— यदि ईश्वर को मुक्तस्वभाव माना जाय तो उससे सृष्टि की रचना नहीं हो सकती और बद्ध मानाजाय तो उसमें ईश्वरपन नहीं हो सकता, एवं दोनों प्रकार से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। अब उक्त शंका का समाधान करते हैं—

उभयथाप्यसत्करत्वम्॥ ९४॥ [षष्टितन्त्र १/९४]

भाष्य— दोनों प्रकार से भी आपका कथन ठीक नहीं, क्योंकि—

मुक्तात्मनःप्रशंसोपासासिद्धस्य वा॥ ९५॥ [षष्टितन्त्र १/९५]

भाष्य— मुक्तस्वभाव परमात्मा की प्रशंसा पाई जाती है और सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की (उपासा) उपासना पाई जाती है। किसमें पाई जाती है ? श्रुति में देखो— **'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'॥** [यजु ४०/८] इत्यादि मंत्रों में मुक्तस्वरूप परमात्मा का वर्णन पाया जाता है। और **'पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते'॥** [अथर्व १०/८/२९] तथा— **'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद'॥ [ऋग १०/१२९/३,७]** इत्यादि श्रुति मे सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की उपासना पाई जाती है। यहाँ श्रुति अर्थ इसलिए होगा क्योंकि सांख्य श्रुति को स्वतः प्रमाण मानता है जिसका निरूपण आगे करेंगे।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा सर्वदुःखनिवृत्त, सर्वोपाधिविलक्षण तथा सर्वथा असङ्ग होने के कारण स्वभावतः मुक्त कहा गया है। उसके स्वरूप में न तो कर्मजन्य बन्धन का संस्पर्श सम्भव है और न ही किसी प्रकार का कर्तव्यबोधजनित क्लेश। अतः मुक्तत्व के प्रतिपादन में किसी प्रकार का दोष या विरोधाभास उपस्थित नहीं होता। परमात्मा की मुक्तावस्था उसकी स्वाभाविक, नित्य एवं अविकार्य सत्ता का द्योतक है, जो न काल से बाधित होती है, न कर्म से, और न ही प्रकृति के गुणों से।

इसी प्रकार यदि परमात्मा को सृष्टिकर्ता स्वीकार किया जाता है, तो भी उसमें किसी प्रकार का बन्धन-दोष आरोपित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका कर्तृत्व सांसारिक जीवों के कर्तृत्व के समान कर्मफल-आश्रित या बाध्यकारी नहीं है। जीव जब

कर्ता बनता है, तब वह अविद्या, राग, द्वेष तथा कर्मवासनाओं से प्रेरित होकर क्रिया करता है, फलतः वह कर्मबंधन में आबद्ध हो जाता है। परन्तु परमात्मा का कर्तृत्व न तो अविद्याजन्य है और न ही किसी अपूर्णता की पूर्ति के हेतु प्रवृत्त होता है। उसका कर्तृत्व पूर्ण स्वातन्त्र्य, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता से सम्पन्न है।

यही भाव वेदान्त के प्रसिद्ध सिद्धान्त "**लोकवत्तु लीला कैवल्यम्**" [ब्रह्मसूत्र २।१।३३] में प्रतिपादित किया गया है। परमात्मा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से, अपनी माया अथवा प्रकृति के माध्यम से जगत् की अभिव्यक्ति करता है, परन्तु उस सृष्टि-व्यापार से उसकी नित्यमुक्त, निरपेक्ष एवं अखण्ड सत्ता में किंचित् भी परिवर्तन नहीं होता। अतः यह सिद्ध होता है कि परमात्मा का मुक्तत्व और कर्तृत्व परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु उसकी पूर्ण सत्ता के दो भिन्न आयाम हैं एक ओर वह सर्वथा असङ्ग, निरपेक्ष और मुक्त है, तथा दूसरी ओर अपनी अनन्त शक्ति और स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार का विधान करता है। इस प्रकार परमात्मा का कर्तृत्व बन्धनरहित, स्वातन्त्र्यमूलक है।
वृत्तिकार अनिरुद्ध द्वारा ईश्वरनिराकरण के समर्थन में जो यह आपत्ति प्रस्तुत की गई है कि "कर्त्ता सदैव शरीरी होता है" वह युक्तिसंगत नहीं है, लौकिक दृष्टान्त के आधार पर यह कहा जाता है कि घट आदि कार्यों का कर्ता कुलाल (कुम्हार) होता है, और वह शरीरधारी होता है; अतः जहाँ कर्तृत्व है, वहाँ शरीरीत्व अनिवार्य है यह तर्क प्रथम दृष्ट्या आकर्षक अवश्य है, परन्तु यह सार्वत्रिक नियम सिद्ध नहीं करता।

प्रथम तो यह विचारणीय है कि सांख्य परम्परा स्वयं प्रकृति को जगत् का उपादानकारण स्वीकार करती है और साथ ही उसे निरवयव, अचेतन तथा शरीररहित भी मानती है। यदि कर्तृत्व अथवा कार्योत्पादन के लिए शरीरीत्व अनिवार्य ही माना जाए, तो प्रकृति द्वारा जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी संकट में पड़ जाता है। क्योंकि यदि शरीरधारण ही सृष्टि-समर्थता की अनिवार्य शर्त हो, तो निरवयव और अचेतन प्रकृति स्वयं सृष्टि-प्रक्रिया को कैसे सम्पन्न कर सकेगी?

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाए कि कुम्हारादि की भाँति निमित्तकारण अवश्य शरीरी होता है और प्रकृति केवल उपादानकारण होने के कारण सूक्ष्म तथा निरवयव रहकर भी कार्य का आधार बन सकती है, तो यह भी पूर्ण समाधान नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि सामान्य अनुभव का नियम यह दर्शाता है कि उपादानकारण स्वयं अपने-आप

कार्य का रूप ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक कि किसी चेतन निमित्तकारण की प्रेरणा या नियमन उसे प्राप्त न हो। जैसे— मिट्टी में घटत्व की सम्भावना तो रहती है, किन्तु वह अपने आप घटरूप में परिणत नहीं होती। उसके लिए कुम्हारादि चेतन निमित्तकारण की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार लकड़ी, पत्थर अथवा धातु आदि पदार्थ भी चेतन प्रेरणा के बिना स्वतः किसी सुव्यवस्थित कार्यरूप में परिणत नहीं होते। अतः यह तात्त्विक सिद्धान्त सर्वमान्य प्रतीत होता है कि जड़ उपादानकारण को कार्यरूप में परिणत करने के लिए किसी चेतन, नियामक और उद्देश्यबोधयुक्त सत्ता की आवश्यकता होती है। इसी से यह निष्कर्ष स्वाभाविक रूप से निकलता है कि जड़, अचेतन तथा गुणपरिणामशील प्रकृति के पीछे भी कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा चेतन नियन्ता सत्ता अवश्य है, जिसके अधीन रहकर प्रकृति जगत् की विविध सृष्टि-विकास प्रक्रिया को सम्पन्न करती है।

यह नियन्ता शरीरधारी जीव के समान सीमित नहीं हो सकता। क्योंकि शरीरधारण सीमितता, अवयवता तथा ज्ञान-शक्ति की संकुचितता का सूचक होता है। सूक्ष्मतम प्रकृति से इस विशाल, सुव्यवस्थित और उद्देश्यपूर्ण जगत् की रचना किसी अल्पज्ञ, शरीरपरिच्छिन्न सत्ता द्वारा सम्भव नहीं मानी जा सकती। अतः वह नियन्ता शरीरातीत, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान परमात्मा ही स्वीकार किया जाना युक्तिसंगत है। उपनिषदों में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन अत्यन्त स्पष्ट रूप से हुआ है— **“न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥”** [श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।८] इस मन्त्र का आशय यह है कि परमात्मा किसी बाह्य उपकरण या साधन का आश्रित नहीं है, न ही उसके तुल्य अथवा उससे श्रेष्ठ कोई सत्ता है। उसकी ज्ञान, बल तथा क्रिया ये तीनों शक्तियाँ स्वाभाविक, अनादि और स्वतः सिद्ध हैं। अतः जगत् की रचना, पालन तथा संहार उसके लिए किसी बाह्य साधन या शरीरी उपकरण पर निर्भर नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि “निमित्तकारण सदैव शरीरी ही होता है” यह प्रतिज्ञा भी सार्वत्रिक नहीं है। अदृष्ट, दैव या कर्मसंस्कार आदि को भी अनेक दार्शनिक प्रणालियाँ निमित्तकारण के रूप में स्वीकार करती हैं, किन्तु वे स्वयं शरीरी नहीं होते। इससे यह सिद्ध होता है कि निमित्तकारण के लिए शरीरीत्व अनिवार्य शर्त नहीं है।

॥ कर्ता अकर्ता पर विचार ॥

पूर्वपक्ष— ईश्वर अकर्ता है इसलिए सृष्टि रचना नहीं करता।

सिद्धांत— अकर्ता होने से सृष्टि रचना नहीं कर सकता यह आपको कहाँ से मालूम हुआ? क्या आप अकर्ता का अर्थ यह लेते हैं कि जो कुछ करता ही ना हो? यह तो अकर्ता की परिभाषा नहीं है। संभव है आप पर 'चुटकीदीपिका' की छाप पड़ी हो। जिस कारण आपके मस्तिष्क ने अपने आपको उसके अधीन कर उसकी स्वकल्पित परिभाषा को सांख्य की परिभाषा बना मानने को विवश किया। और यदि ऐसी ही बात है तब तो मूल सांख्य मे जीव को भी अकर्ता कहा है। पुनः वह कैसे प्रकृति से सान्निध्य करता है? और सृष्टि बनता है? क्योंकि जब जीव निष्क्रिय है पुनः वह प्रकृति के पास जा नहीं सकती और ना ही प्रकृति चेतन है कि जीव को अपने पास बुलाए और कहे चलो दोनों मिल के सृष्टि बनाते हैं? जब दोनों ही अकर्ता हैं तब किसी का भी सान्निध्य हो सृष्टि तो नहीं बनेगी। क्योंकि आपकी कर्ता-अकर्ता की परिभाषा के अनुसार उसका कर्तापन नष्ट हो जाएगा। प्रथमतः तो आप सांख्य के नाम पर 'प्रदूषण' मानते हैं अर्थात् सांख्य सिद्धांत से विरूद्ध ग्रंथों का अवलोकन करते हैं जिस कारण आपको कर्ता-अकर्ता की सांख्याऽनुमोदित ठीक परिभाषा ज्ञात नहीं। और ना जानने के कारण आपने इतना बखेड़ा खड़ा कर दिया है जिसकी कोई सानी नहीं। अस्तु। अकर्ता का अर्थ करते हुए साक्षात् भगवान् कपिल के प्रशिष्य 'भगवत्पाद महर्षि पञ्चशिख' लिखते हैं—

अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छंकते॥ १८॥ [कैवल्यतन्त्रम् सूत्र १८]

भाष्य— (**अयन्तु खलु**) निश्चित ही यह जीवात्मा (**त्रिषु गुणेषु कर्तृषु**) त्रिगुणात्मक प्रकृति के विश्वरूप में परिणत हो जाने पर (**अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे**) अपरिणामी उस चतुर्थ पुरुष (**तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान्**) जगन्नियन्ता व समस्त जगत् की क्रियाओं के साक्षी परमात्मा में (**सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्**) अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को समर्पण कर उसीमें अपनी उन कामनाओं को सम्पन्न-सिद्ध जानता हुआ (**न दर्शनमन्यच्छंकते**) अन्य किसी दर्शन अपेक्षित ज्ञेय की आशंका सम्भावना नहीं रखता।

यहाँ महर्षि पञ्चशिख ने प्रकृति एवं उसके अंगभूत तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् को 'कर्ता' कहा है। और 'कर्ता' का अर्थ यहाँ 'परिणामी तत्त्व' है। अर्थात्, जो तत्त्व

निरन्तर परिवर्तनशील है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदल रहा है, वही इस दृष्टि से 'कर्ता' है। प्रकृति इसी अर्थ में परम कर्ता है, क्योंकि वह अव्यक्त सूक्ष्म अवस्था से व्यक्त स्थूल विश्वरूप में निरन्तर परिणत होती रहती है। यह परिणाम-क्रिया उसका स्वभाव है। इसके विपरीत, पुरुष चेतन तत्त्व को 'अकर्ता' कहा गया है। यहाँ 'अकर्ता' का तात्पर्य 'अपरिणामी' होना है। पुरुष नित्य, अविकारी और अपरिवर्तनशील है। वह किसी भी प्रकार के रूपान्तरण या गुण-परिवर्तन से मुक्त है। अतः, परिणाम की क्रिया में वह कर्ता नहीं है। देखो इसके अगले सूत्र में इसी भाव को भगवान पञ्चशिख ने कहा है—

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति ॥ १९ ॥ [कैवल्यतन्त्रम् सूत्र १९]

'भोक्तृशक्ति' अर्थात् अनुभव करने वाला सामर्थ्य जो चेतन जीवात्म-पुरुष है निश्चित ही अपरिणामी है। 'परिणाम' का अर्थ है रूपान्तरण, विकार या परिवर्तन। प्रकृति और उसके समस्त विकार महत् (बुद्धि), अहंकार, पंचतन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ एवं भूत सभी परिणाम के अधीन हैं। वे एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होते रहते हैं। इसके विपरीत, पुरुष सर्वथा अपरिणामी है। वह न तो जन्म लेता है, न बढ़ता है, न विकसित होता है, न ही नाश को प्राप्त होता है। उसका चैतन्य-स्वरूप नित्य, अविकारी और शाश्वत है।
देखिए कपिल महराज भी इसी बात को अपने सूत्रों में यों बखान करते हैं—

कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ॥ १४४ ॥ [षष्टितन्त्र १/१४४]

अर्थात् मोक्ष के लिए पुरुष की प्रवृत्ति देखी जाती है।
यहां तो कपिल ऋषि ने स्पष्टतः जीवात्मा को प्रवृत्ति वाला कथन किया है। यह तो रही सांख्य की कर्ता-अकर्ता की परिभाषा। कहिए आप कौन सा सांख्य मानते हैं? यहां यह भी स्मरण रहे कि जीवात्मा को यहां 'भोक्ता' कहा है भोक्ता वही हो सकता है जो कर्म करे। जैसाकि [षष्टितन्त्र १/१४३] में कहा है- **'भोक्तृभावात्'**। अर्थात् भोक्ता होने से पुरुष देहादि से भिन्न है।

पुनः आपका माना हुआ अकर्ता तो धरा का धरा रह गया। क्योंकि अकर्ता कि यदि आप अपनी स्वकल्पित परिभाषा लेते हैं तो वह आप सांख्य पर ना थोपे। सांख्य की परिभाषा अलग है जो मैं उपरोक्त सूत्र में कह आया हूँ। इति॥

[**विशेष—** किन्तु एक गहनतर स्तर पर, वह क्रिया के प्रति 'स्वातंत्र्य' रखने के कारण कर्ता है। अर्थात्, वह स्वयं परिणत न होकर भी, परिणति की समस्त प्रक्रिया का साक्षी, प्रेरक और उद्देश्य है। वह अन्य तत्त्व अर्थात त्रिगुणात्मक प्रकृति को परिणति के लिए प्रेरित करता है। यह कर्तृत्व का वह विशिष्ट रूप है जो केवल चेतन में ही सम्भव है वह प्रेरित करता है किन्तु स्वयं प्रेरित नहीं होता, वह देखता है किन्तु स्वयं दृष्टि का विषय नहीं बनता। इस प्रकार, प्रकृति परिणाम के अर्थ में कर्ता है, जबकि पुरुष प्रेरणा के अर्थ में कर्ता है।]

तथा '**अयन्तु खलु**' इस सूत्र मे भगवान पञ्चशिखाचार्य ईश्वर का भी कथन कर रहें हैं, सूत्र में 'अयन्तु खलु' पद के द्वारा प्रथम जीवात्मा का ग्रहण कर त्रिगुणात्मक प्रकृति के सापेक्ष उसकी स्थिति का विवेचन किया गया है, और तत्पश्चात् एक चतुर्थ पुरुष का निर्देश मिलता है, जो साधारण पुरुष से भिन्न, विशिष्ट सत्ता का द्योतक है। और उस चतुर्थ पुरुष की तुलना जीवात्मा से करते हुए भगवान् पञ्चशिखाचार्य '**तुल्यातुल्यजातीये**' यह शब्द पढ़ते हैं अर्थात् जो चौथा पुरुष है वह जीवात्मा से 'तुल्यातुल्यजातीये' है अर्थात् कुछ गुणों में दोनों समान है तथा कुछ में असमान।

यहां जीवात्मा से अतिरिक्त एक और पुरुष परमात्मा का कथन है क्योंकि जीव और परमात्मा में ही 'तुल्यातुल्यजातीये' हो सकता है जैसे जीव और परमात्मा दोनों ही चेतनस्वरूप, अपरिणामी, अकर्ता तथा अजर-अमर तत्त्व हैं इस दृष्टि से वे तुल्यजातीय हैं। किन्तु जहाँ परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान है, वहीं जीवात्मा अल्पज्ञ, सीमित सामर्थ्य वाला तथा देहाध्यास से ग्रस्त होकर एकदेशी अनुभव में स्थित होता है। परमात्मा कभी देहबन्धन में आबद्ध नहीं होता, जबकि जीव कर्मवश देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध स्थापित करता हुआ संसारचक्र में प्रवृत्त दिखाई देता है। अतः इन विशिष्ट भेदों के कारण दोनों अतुल्यजातीय भी सिद्ध होते हैं। जब स्वयं कपिल परम्परा के प्रामाणिक आचार्य पञ्चशिखाचार्य इस प्रकार जीव से अतिरिक्त एक परम पुरुष की प्रतिष्ठा करते हैं, तब यह प्रतिपादन करना कि सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी है, वस्तुतः दर्शन की मूल धारा से विमुख होने के समान प्रतीत होता है। पुनः आप क्योंकर कह सकते हैं कि सांख्य ईश्वरवादी नहीं है? आप किस सांख्य के अनुयायी हैं? उस सांख्य के जिसकी आधारशिला कपिल, आसुरि और पञ्चशिख जैसे महर्षियों ने रखी? या उस सांख्य के जिसे उत्तरकालीन मतभेदों और आंशिक व्याख्याओं ने अपने-अपने आग्रहों के अनुरूप रूपान्तरित कर दिया?

यदि परम्परागत सांख्य को ही प्रमाण मानते हैं तो उसके प्रामाणिक आचार्यों के मतों की उपेक्षा करने का सीधा अर्थ है कि आप कपिलप्रोक्त सांख्य नहीं मानते। और यदि आप किसी परिवर्तित सांख्य को ही स्वीकार करते हैं, तो उसे सांख्य-परम्परा का अंतिम और सर्वमान्य स्वरूप बताना भी न्याय की दृष्टि से संगत नहीं कहा जा सकता। मूल बात यह है कि आपको सोने से अधिक 'मायावाद' रूपी जंग लगा लोहा पसंद है।

ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि सांख्य को निरीश्वरवादी सिद्ध करने का आग्रह कहीं ऐसा प्रयास तो नहीं, जिसमें शास्त्र के मूल तत्त्व को उसके व्याख्यात्मक आवरणों के भीतर विलीन कर दिया गया हो? क्योंकि परम्परा का अनुसरण करना और परम्परा की संज्ञा का उपयोग करके उसके तत्त्व को परिवर्तित कर देना ये दोनों सर्वथा भिन्न बातें हैं। आप यह भ्रम तो मिटा ही देंवे कि आप सांख्य परम्परा के अनुयायी हैं। तथापि आपको तो 'सांख्यनाशक' की संज्ञा देना अधिक उचित रहेगा। अस्तु।
आगे षष्टितंत्र में भगवान कपिल कहते हैं—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्॥ ९६॥ [षष्टितन्त्र १/९६]

भाष्य— इस सूत्र का गूढ़ार्थ यह है कि जिस प्रकार अयस्कान्तमणि के समीप होने मात्र से लोहद्रव्य में गति और आकर्षण की चेष्टा उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार चेतन ईश्वर की सन्निधि से प्रकृति में जगत्-रचना की प्रवृत्ति जागृत होती है। यहाँ विशेष रूप से यह संकेत किया गया है कि जड़, अचेतन तथा स्वतः उद्देश्यशून्य प्रकृति अपने-आप किसी सुव्यवस्थित जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं हो सकती। उसमें कार्योत्पादन की प्रवृत्ति तभी सम्भव है, जब किसी चेतन, सर्वज्ञ तथा नियामक सत्ता का अधिष्ठान उसे प्राप्त हो। यहाँ एक शंका उपस्थित की जा सकती है कि 'तत्सन्निधान' शब्द से ईश्वर का ही ग्रहण क्यों किया जाए? जीवात्मा का ग्रहण क्यों न मान लिया जाए? इस सम्भावित आपत्ति का समाधान स्वयं भगवान् कपिल अगले सूत्र में प्रदान करते हैं—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्॥ ९७॥ [षष्टितन्त्र १/९७]

भाष्य— इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि चेतनस्वरूप होने के कारण जीवात्माओं में भी कुछ विशिष्ट कार्यों का अधिष्ठातृत्व पाया जाता है जैसे शरीर, इन्द्रिय, मन आदि की क्रियाओं का नियमन। जीव अपने कर्मसंस्कारों के अनुसार इन उपकरणों के माध्यम से

व्यवहार करता है, अतः इन सीमित उपाधियों के क्षेत्र में उसका अधिष्ठातृत्व स्वीकार किया जाता है।

किन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ, सीमित शक्ति वाला तथा कर्मवश बन्धनग्रस्त होने के कारण प्रकृति के सार्वभौम नियन्ता के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। प्रकृति के सूक्ष्मतम तत्त्वों से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का समन्वय, संचालन और सृष्टि-विकास केवल ऐसी सत्ता द्वारा सम्भव है, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक हो।

तात्पर्य यह है कि जीव का अधिष्ठातृत्व आंशिक और विशेष कार्यों तक ही सीमित है, न कि सम्पूर्ण प्रकृति पर। यदि 'तत्सन्निधान' शब्द से जीव का ही ग्रहण अभिप्रेत होता तो 'विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्' जैसे पृथक् सूत्र की रचना सर्वथा निरर्थक सिद्ध होती। क्योंकि उस स्थिति में जीव का प्रकृति तथा शरीर दोनों का अधिष्ठातृत्व उसी पूर्वसूत्र से सिद्ध हो जाता। परन्तु भगवान् कपिल ने जीव के अधिष्ठातृत्व को पृथक् रूप से निर्दिष्ट कर यह स्पष्ट कर दिया कि 'तत्सन्निधान' में जिस अधिष्ठाता सत्ता का संकेत है, वह जीव से भिन्न, उच्चतर तथा सर्वव्यापक नियन्ता ईश्वर ही है।

इस प्रकार इन दोनों सूत्रों के परस्पर सम्बन्ध का सूक्ष्म परीक्षण यह सिद्ध करता है कि सांख्य परम्परा में प्रकृति की स्वतन्त्र, अचेतन सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसके पीछे एक परम चेतन अधिष्ठाता का प्रतिपादन अन्तर्निहित रूप से विद्यमान है। भगवान् कपिल की यह व्यवस्था अत्यन्त संतुलित है। जिसमें जीव की सीमित चेतन सत्ता और परमात्मा की सर्वाधिष्ठाता सत्ता, दोनों का समुचित स्थान निर्धारित किया गया है। परन्तु 'सांख्य नाशक' आदि शब्दों से स्मरणीय कुछ मूढ़ लोगों ने भगवान् कपिल के इस मत को दूषित कर उनपर और उनकी रचना पर अनीश्वरवाद का आरोप किया है। आगे पुनः—

व्यावृत्तोभयरूपः ॥ १६० ॥ [षष्टितन्त्र १/१६०]

भाष्य— अर्थात् जो प्रकृति तथा जीव इन दोनों के स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, वही परमात्मा है। यहाँ 'उभयरूप' से प्रकृति और पुरुष (जीव) का ग्रहण किया गया है, तथा 'व्यावृत्त' शब्द द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि परमात्मा इन दोनों से भिन्न, विलक्षण और उच्चतर सत्ता है।

संसारचक्र अनादि प्रवाहरूप से संचालित होता रहता है। प्रकृति परिणामि-नित्य है अर्थात् वह सद्रूप तो है, किन्तु गुणपरिणाम के कारण विकारगामी है। जीव अथवा पुरुष कूटस्थ-नित्य है वह अपरिवर्तनशील सच्चित्स्वरूप है, किन्तु सीमित अनुभव में स्थित रहता है। परन्तु परमात्मा इन दोनों से भिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वाधिष्ठाता, सर्वकर्त्ता, सर्वसंहर्ता तथा अनन्त गुणों का भण्डार है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र— **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया..."** [ऋ० १/१६४/२०] में भी यही तत्त्व प्रतिपादित हुआ है कि एक ही वृक्ष (प्रकृति) में दो पक्षी स्थित हैं एक (जीव) कर्मफल का भोक्ता है और दूसरा (ईश्वर) साक्षी, व्यापक और नियन्ता रूप में स्थित है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर न प्रकृति है और न ही केवल जीव, अपितु दोनों से विलक्षण परम सत्ता है। इसी भेद को और स्पष्ट करते हुए षष्टितन्त्र में कहा गया है—

साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्॥ १६१॥ [षष्टितन्त्र १/१६१]

भाष्य— अर्थात् परमात्मा का प्रकृति और जीव के साथ सम्बन्ध इन्द्रियजन्य या बाह्य साधनों पर आश्रित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष, स्वतन्त्र तथा अन्तर्यामित्वस्वरूप है। यह सम्बन्ध स्वस्वामिभाव अथवा शरीर-शरीरीभाव के रूप में समझा जाता है। जैसाकि वृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामीब्राह्मण में कथन किया है कि **"यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्॥** जो पृथिवी में रहता है और पृथिवी का अन्तर्यामी है जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिस का पृथिवी शरीर है। इस प्रकार इस सम्बन्ध को शरीर शरीरीभाव सम्बन्ध भी कहते हैं।

इसके उपरान्त परमात्मा की एक और विशिष्टता प्रतिपादित की जाती है—

नित्यमुक्तत्वम्॥ १६२॥ [षष्टितन्त्र १/१६२]

भाष्य— वह परमात्मा सदा मुक्त स्वभाव है। परमात्मा सर्वथा स्वतन्त्र होने से नित्यमुक्तस्वभाव है अर्थात् उस परमात्मा का कोई स्वामी नहीं और वह किसी के बन्धन में नहीं आता। वह परमात्मा नित्यमुक्त क्यों है ? उत्तर—

औदासीन्यं चेति॥ १६३॥ [षष्टितन्त्र १/१६३]

भाष्य— अर्थात् परमात्मा अभोक्ता है, फलाकाङ्क्षा से रहित है। इसलिए उसे उदासीन कहा गया है। वह सर्वकामपूर्ण होने से किसी प्रयोजन की पूर्ति हेतु कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अतः वह बन्धन से सर्वथा परे रहता है।

यहाँ एक शंका उठ सकती है कि जब परमात्मा नियमुक्त और उदासीन है, तब वह जगत् का कर्ता कैसे माना जा सकता है? उत्तर—

उपरागात्कर्तृत्वंचित्सानिध्यात्चित्सानिध्यात्॥ १६४॥ [षष्टितन्त्र १/१६४]

भाष्य— अर्थात् ईश्वर निमित्तकारण है और प्रकृति उपादानकारण। परमात्मा की चेतन सन्निधि से प्रकृति में कार्योत्पादन की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। ईश्वर प्रयोजक या गौण कर्ता है, जबकि प्रकृति परिणामी होने के कारण मुख्य कार्यकारण रूप में कार्य करती है। यही सिद्धान्त गीता में भी प्रतिपादित है "**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः...**" [गीता ३।२७] अर्थात् समस्त क्रियाएँ प्रकृति के गुणों द्वारा ही सम्पन्न होती हैं।

इस प्रकार सांख्य का संतुलित मत यह है कि सृष्टि के लिए प्रकृति और परमात्मा दोनों का समन्वित कारणत्व स्वीकार करना चाहिए। इत्यादि प्रथम अध्याय में ईश्वर को सृष्टि कर्ता आदि सांख्यकार ने कथन किया है।

शंका— क्या पता यह नित्यमुक्त आदि जीवात्मा के लिए कथन किया हो?

उत्तर— आपकी शंका सर्वथा निर्मूल और निन्दनीय है क्योंकि जब जीवात्मा स्वभावेण नित्यमुक्त ही है पुनः बन्धन में आ नहीं सकता। स्वभावविरुद्ध स्थिति का होना दार्शनिक दृष्टि से असम्भव माना गया है। स्वयं षष्टितन्त्र में कहा गया है—

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेश विधिः॥ ७॥ [षष्टितन्त्र १/७]

भाष्य— त्रिविध दुःख सम्बन्ध का नाम "बन्ध" है, यदि वह स्वाभाविक हो तो शास्त्रोक्त मोक्ष के उपाय विवेकज्ञान के अनुष्ठान में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती। क्योंकि यह नियम है कि जो वस्तु अपने प्रयनसाध्य तथा मुख का साधन होती है उसी के सम्पादन करने में पुरुष अवृत्त होता है और दुःख सम्बन्धरूप बन्ध का स्वाभाविक होने के कारण विवेकज्ञान से निवृत्त होना असम्भव है, अतएव उसको स्वाभाविक मानना ठीक नहीं।
इसी को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥ ८ ॥ [षष्टितन्त्र १/८]

भाष्य— स्वभावभूत वस्तु की निवृत्ति का असम्भव होने से निवृत्ति का बोधक शास्त्र (**अप्रामाण्यम्**) अप्रमाणिक होजाता है।

तात्पर्य यह है कि स्वभावभूत वस्तु की निवृति असंभव है अतः जीवात्मा स्वाभाविक मुक्त हो नहीं सकता। यदि हो तो बंधन में नहीं आ सकता। अतः यह **'नित्यमुक्तत्वम्'** किसी अन्य के लिए ही कहा गया है। चूंकि जीवात्मा स्वाभाविक मुक्त नहीं है और प्रकृति जड़ है तो यह वर्णन इनसे भिन्न परमात्मा का ही है। आगे कपिल महराज षष्टितंत्र अध्याय दो में लिखते हैं—

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥ ५ ॥ [षष्टितन्त्र २/५]

भाष्य— (**प्रकृतिवास्तवे**) वस्तुतः प्रकृति के उपादानकारण होनेपर (**च**) भी (**पुरुषस्य**) ईश्वर की (**अध्याससिद्धिः**) अधिष्ठानरूप से उपादान कारणता की सिद्धि है।

तात्पर्य यह है कि प्रथम अध्याय में "**तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वम्...**" इस सूत्र द्वारा जिस ईश्वर की सिद्धि की गई है, वह अधिष्ठाता सर्वनियन्ता, सर्वव्यवस्थापक तत्त्व है। वहाँ यह प्रतिपादित हुआ कि ईश्वर के सन्निधान से ही प्रकृति और उसके विकारों में क्रियाशीलता आती है। उसके बिना जड़ प्रकृति में न तो प्रवृत्ति है, न व्यवस्था। इस प्रकार ईश्वर का अधिष्ठानरूप, नियामकस्वरूप सिद्ध किया गया है। अब जब श्रुति में यह कहा जाता है कि "ईश्वर से आकाश आदि तत्त्वों की उत्पत्ति हुई" तो यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि ईश्वर स्वयं पदार्थरूप में परिवर्तित होकर आकाश, वायु आदि बन गया। ऐसा मानना न तो तर्कसंगत है और न ही पूर्व सिद्ध अधिष्ठातास्वरूप ईश्वर के अनुरूप। वास्तविक स्थिति यह है कि प्रकृति उपादान कारण है अर्थात् जगत् के नामरूपात्मक तत्त्व उसी से प्रकट होते हैं। और ईश्वर निमित्त कारण है वह प्रेरक, नियन्ता और अधिष्ठाता है, जो प्रकृति को उद्देश्यपूर्ण सृष्टिव्यवस्था में प्रवृत्त करता है। प्रकृति जड़ है, उसमें सृजन की सामग्री तो है, परन्तु योजना और संकल्प नहीं। ईश्वर चेतन है, उसमें संकल्प और ज्ञान है। परन्तु वह स्वयं जड़ पदार्थ में परिणत नहीं होता। इसी सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि प्रकृति "ईश्वर का शरीरभूत" है। जैसे शरीर आत्मा के अधीन रहकर उसके द्वारा संचालित होता है, वैसे ही प्रकृति ईश्वर की अधीन शक्ति है उसकी कार्यशक्ति, उसकी

अभिव्यक्ति का क्षेत्र है। इस दृष्टि से जब श्रुति कहती है कि "ईश्वर से आकाश की उत्पत्ति हुई" तो उसका आशय यह है कि ईश्वर की अधिष्ठानसत्ता और संनिधान के कारण, उसकी अधीन प्रकृति से आकाश आदि तत्त्वों का आविर्भाव हुआ।

चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत्॥ ७॥ [षष्टितन्त्र २/७]

भाष्य— (**कण्टकमोक्षवत्**) कण्टक से छूटने की भांति (**चेतनोद्देशात्**) ईश्वर की प्रेरणा से (**नियम**:) बद्ध मुक्त के प्रति प्रकृति सृष्टि का नियम पाया जाता है।

और "कण्टकमोक्षवत्" जैसे काँटे से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य सचेत प्रयास करता है, वैसे ही बन्धन से मुक्त होने की समूची प्रक्रिया भी चेतन प्रेरणा के अधीन है। जब किसी के पैर में काँटा चुभता है, तो वह स्वतः नहीं निकल जाता। पीड़ा का बोध होता है, फिर उसे निकालने का संकल्प होता है, फिर साधन का प्रयोग होता है। यह पूरी प्रक्रिया चेतन उद्देश्य से चलती है न कि काँटा स्वयं हट जाने की किसी अन्धी प्रवृत्ति से।

बहुधा यह आपत्ति उठाई जाती है कि "सांख्य में तो विवेकज्ञान से मुक्ति होती है। प्रकृति स्वयं पुरुष के लिए अनुभव और अपवर्ग का साधन बनती है। फिर ईश्वर का प्रयोजन क्या रहा? यदि सब कुछ केवल प्रकृति पर छोड़ दिया जाए, तो कर्मफलनियम, जीवों की यथायोग्य गति, और मोक्ष की व्यवस्था ये सब कैसे सुनिश्चित होंगे? कर्म फल का निर्णय आगे करेंगे।

भगवान् कपिल यहाँ स्पष्ट करते हैं कि चेतन के उद्देश्य से ही नियम की प्रतिष्ठा है। किस चेतन के उद्देश्य से? आपके मत मे तो आप जीव को मानते हैं नियम का प्रतिष्ठाता जबकि वो हो नहीं सकता क्योंकि कर्मफल देना सृष्टि की व्यवस्था करना यह बद्ध जीव कर नहीं सकता और मुक्त को आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि उसको तो 'जगदव्यापारवर्ज' कहा है। और ऐसा भी नहीं है कि केवल एक ही मुक्त जीव हो मुक्त जीव बहुत सारे हैं। उन्मे से किसको सृष्टि बनाने की आवश्यकता आन पड़ी यह भी आप निश्चय नहीं कर सकते और यदि मान लेते हैं तो जिस प्रकार आप सृष्टि रचने के कारण ईश्वर बन्धन में आ गया यह कहते हैं तो आपका यह तर्क आपके ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के लिए काफी है क्योंकि फिर तो आपका माना हुआ अनन्त मुक्त जीव अनन्त मुक्ति छोड़ आपको मारने दौड़ेगा। अतः जीवों को अपने कर्मों का फल भोगना है।

उन्हें अनुभवों के माध्यम से परिपक्व होना है। उन्हें अन्ततः विवेकज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाना है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था एक व्यापक नियमन-सत्ता की अपेक्षा रखती है। यही वह स्थान है जहाँ ईश्वर की अधिष्ठाता-सत्ता अनिवार्य सिद्ध होती है। स्पष्ट कपिल ऋषि ने अपने इस सूत्र रूपी ज्वालाओं से सगर पुत्र रूपी नास्तिकों को एक ही पल में भस्म कर दिया है। पुनः—

न्ययोगेऽपितत्सिद्धिनञ्जस्येनायोदाहवत्॥ ८॥ [षष्टितन्त्र २/८]

भाष्य— जिस प्रकार अयोदहति=लोह जलाता है, यहां पर अग्नि के सम्बन्ध से लोह में दाहकत्व व्यवहार की सिद्धि होती है इसी प्रकार प्रकृति के सम्बन्ध से ईश्वर में कर्त्तृत्व पाया जाता है उपादान कारणत्व नहीं।

आशय है जैसे हम व्यवहार में कहते हैं कि "लोहा जलाता है", किन्तु वस्तुतः दाहकत्व लोहे का स्वभाव नहीं, अपितु अग्नि के संसर्ग से उसमें प्रकट हुआ गुण है; उसी प्रकार सृष्टि-व्यवहार में ईश्वर का कर्तृत्व कहा जाता है। जब लोहे का टुकड़ा अग्नि में रख दिया जाता है, तो वह लाल हो उठता है, तप्त हो जाता है, और किसी वस्तु को स्पर्श करे तो उसे दग्ध कर देता है। तब सामान्य व्यवहार में हम कहते हैं "लोहे ने जला दिया।" पर दाहकत्व का तत्त्व तो अग्नि में है; लोह केवल उसका आश्रय बना है। अग्नि का तेज उसमें संचारित हुआ है, इसलिए वह दाहक प्रतीत होता है। यदि अग्नि का संसर्ग न हो, तो वही लोह शीतल और अदाहक रहता है। इसी प्रकार सृष्टि के व्यवहार में ईश्वर को "कर्ता" कहा जाता है। श्रुति कहती है उससे आकाशादि की उत्पत्ति हुई। पर यहाँ "कर्ता" होने का अर्थ यह नहीं कि ईश्वर स्वयं पदार्थरूप में परिणत होकर जगत् बन गया। उपादान कारण तो प्रकृति है जगत् का वास्तविक द्रव्य-तत्त्व। ईश्वर का कर्तृत्व उसके साथ सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। अब आगे सृष्टि का स्वरूप कथन करते हुए लिखते हैं—

रागविरागयोर्योगःसृष्टिः॥ ९॥ [षष्टितन्त्र २/९]

भाष्य— भोगादि का सम्पादक होने से प्रकृति का नाम "राग" और प्रकृति कृत भोगादि की वासना से रहित होने के कारण ईश्वर को "विराग" कहते हैं, इन दोनों का स्वस्वामिभाव तथा प्रेर्य्य प्रेरकभाव सम्बन्ध सृष्टि का हेतु होने से "सृष्टि" कहलाता है।

तीसरे अध्याय में पुनः भगवान कपिल प्रकृति को पराधीन कथन करते हैं—

अकार्य्यत्वेपितद्योगःपारवश्यात्॥ ५५॥ [षष्टितन्त्र ३/५५]

भाष्य— (**अकार्यत्वे, अपि**) प्रकृति किसीका कार्य न होने पर भी (**पारवश्यात्**) पराधीन होने से (**तद्योगः**) उसका योग प्रकृ तिलय पुरुष के साथ होजाता है।
तात्पर्य यह है कि प्रकृति ईश्वर के अधीन है ना कि स्वतंत्र जैसा कि नास्तिक लोग कथन करते हैं।

शंका— प्रकृति परमात्मा के अधीन कैसे हो सकती है ? उत्तर—

स हि सर्वावित्सर्वकर्ता॥ ५६॥ [षष्टितन्त्र ३/५६]

भाष्य— क्योंकि (**स, हि**) वह परमात्मा (**सर्ववित्**) सर्वज्ञ होने से (**सर्वकर्त्ता**) सब संसार की रचना करने वाला है।

प्रकृति निस्सन्देह अपरिमित शक्ति से युक्त है। वह महती है, अनादि है, त्रिगुणात्मक है, और समस्त नाम-रूप-प्रपञ्च का उपादान-भूत आधार है। किन्तु शक्ति और स्वातन्त्र्य समानार्थक नहीं। जड़ शक्ति में स्वप्रेरणा नहीं होती, उसमें न तो संकल्प है, न ज्ञान, न ही न्याय-विवेक है। अतः यदि प्रकृति को पूर्ण स्वतन्त्र मान लिया जाए, तो सृष्टि में जो सुव्यवस्थित क्रम, कारण-कार्य-संबन्ध, कर्मफल-न्याय और जीवों की विविध गति दृष्टिगोचर होती है, उसका युक्तिसंगत स्पष्टीकरण सम्भव नहीं रहता।

इसी प्रसंग में ब्रह्मसूत्र का वचन— “रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्” (२।१।१) विशेष स्मरणीय है। वहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि केवल अनुमान या जड़ तत्त्व की स्वचालित प्रवृत्ति से सृष्टि-रचना की उपपत्ति नहीं बैठती। रचना का अर्थ है उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था, साधन-साध्य-संबन्ध की संगति। अतः जड़ प्रकृति अपने आप सृष्टि-विन्यास का आरम्भ नहीं कर सकती; उसे चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता है। “सर्ववित्” पद का विशेष महत्त्व है। जो सर्वज्ञ है, वही समस्त तत्त्वों का, समस्त जीवों के कर्मों का, उनके संस्कारों और भावी प्रवृत्तियों का यथार्थ ज्ञान रखता है। वह कर्मानुसार जीवों की यथोचित स्थिति-नियुक्ति भी है। यह व्यवस्था केवल उसी के द्वारा सम्भव है जो सब कुछ जानता है।

“सर्वकर्ता” पद का अभिप्राय भी उपादान-परिणामत्व नहीं, अपितु नियामक-निमित्तत्व है। उपादान कारण प्रकृति है जगत् का द्रव्य-तत्त्व उसी से प्रकट होता है। किन्तु

उस द्रव्य को उद्देश्यपूर्ण सृष्टि-रूप में प्रतिष्ठित करने वाला, उसके प्रवाह को नियमबद्ध करने वाला, कर्मफल-व्यवस्था को संचालित करने वाला परमात्मा है। इसी कारण प्रकृति, यद्यपि महती और अपरिमित शक्ति-सम्पन्न है, तथापि परमात्मा के अधीन कही गई है।

शंका— 'सर्ववित्' और 'सर्वकर्त्ता' जैसे पदों का उच्चारण मात्र किसी अमुक सत्ता को स्वतः ईश्वर सिद्ध नहीं करता, अपितु इससे इतना निष्पन्न होता है कि जो सत्ता सर्वज्ञता आदि गुणों से सम्पन्न हो, वही ईश्वर कहलाने योग्य है। उत्तर—

ईदृशेश्वरसिद्धिःसिद्धा ॥ ५७ ॥ [षष्टितन्त्र ३/५७]

भाष्य— (**ईदृशेश्वरसिद्धिः**) सर्वज्ञादि गुणयुक्त ईश्वर की सिद्धि (**सिद्धा**) वैदिक ईश्वर की सिद्धि सिद्ध होती है।

कहने का अर्थ यह है कि 'सर्ववित्' और 'सर्वकर्त्ता' कहने से यह प्रतिपादित होता है कि ऐसे गुणों से सम्पन्न सत्ता ईश्वर ही हो सकती है, जीव नहीं। यद्यपि योगबल से जीव में सर्वज्ञता का कुछ अंश प्रकट हो सके, तथापि सर्वकर्तृत्व आदि सार्वभौम गुण उसकी सत्ता में कदापि सिद्ध नहीं होते। इसी भाव को "**जगद्व्यापारवर्जम्**" (ब्र० सू० ४।४।१७) में स्पष्ट किया गया है कि साधनसम्पन्न होने पर भी जीव का ऐश्वर्य जगत् की उत्पत्ति आदि सार्वत्रिक व्यापार का अधिकारी नहीं बनता। यही बात सांख्यप्रवचनभाष्य में भगवान व्यासदेव ने भी कहा है। अतः यह कहना कि सांख्य का ईश्वर 'मुक्तजीव' विशेष को कहते हैं मूर्खतापूर्ण है।

आक्षेप— सांख्य में ईश्वर माना ही नहीं जा सकता क्योंकि उसका वहां कोई काम नहीं है उत्तर—

न ईश्वराधिष्ठितेफलनिष्पत्तिःकर्मणातत्सिद्धे ॥ २ ॥ [षष्टितन्त्र ५/२]

भाष्य— (**ईश्वराधिष्ठिते**) ईश्वर के ओधिष्ठाता होन पर ही (**फलनिष्पत्तिः**) फलकी सिद्धि होती है (**कर्मणा**) केवल कर्मद्वारा (**नःतत्सिदधेः**) फल की सिद्धि (**न**) नहीं होने से। कर्मफल होने के कारण अधिष्ठाता के बिना स्वयं फल नहीं देसक्ते इसलिये कथ फल दाता ईश्वर मानना आवश्यक है। लोक में भी यही व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। किसी राज्य में विधि-विधान हो सकते हैं, दण्ड-संहिता लिखी हो सकती है, परन्तु न्यायाधीश और शासक के बिना वे नियम स्वतः दण्ड-वितरण नहीं करते। नियम पुस्तक में निहित रहता है; उसके

प्रवर्तन के लिए चेतन अधिकार-शक्ति आवश्यक होती है। इसी प्रकार शुभाशुभ कर्म नियमरूप हैं, परन्तु उनके यथायोग्य फल का विधान करने वाला चेतन अधिष्ठाता ईश्वर अनिवार्य है। इसी प्रकार विहित ओर निषिद्ध कर्मों का फल दाता ईश्वर है।

कुछ आक्षेपकर्ता यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि कर्म स्वयं फल देता है, ईश्वर की आवश्यकता नहीं। परन्तु यही व्याख्या सूत्र के प्रतिपाद्य के विपरीत है। यदि “न” का प्रयोग ईश्वर-निषेधार्थ किया जाए, तो शेष वाक्य का तात्पर्य असंगत हो जाता है। यहाँ निषेध कर्म की स्वतन्त्र फलदाता-शक्ति का है, न कि ईश्वर-सत्ता का।

इन आक्षेप कर्ता नास्तिकों की बुद्धि देखिए इन्होंने जो सूत्र का अर्थ लापन यों किया है कि कर्म अपने आप फल दे देतें है ईश्वर की आवश्यकता नहीं। इनकी बुद्धि का नमूना देखिए कि यहां इस सूत्र में तथा ईश्वरसिद्धिः सूत्र में ये उस परमात्मा की असिद्धि लापन करते हैं। यहां निषेध में ये वही ईश्वर मानेंगे जो मुक्तात्मा से भिन्न है। परन्तु जहां सांख्य में इट्टशेश्वरसिद्धि कहा है वहां ये ईश्वर शब्द से मुक्तात्मा कथन करते हैं बलिहारी हो बुद्धि की। इस प्रकार से तो ईश्वर+असिद्धि सूत्र में भी मुक्तात्मा माना जा सकता है कि सांख्यशास्त्र कार मुक्तात्मा का निषेध कर रहे हों? तो क्या यह युक्तिसंगत होगा? स्पष्टतः नहीं। आगे और भी युक्ति देते हुए लिखते हैं—

स्वोपकारादाधेष्ठानंरोकवत्॥ २॥ [षष्टितन्त्र ५/३]

भाष्य— (**लोकवत्**) लोक में राजा की भांति (**स्वरापकारात्**) जीवों पर उपकार करने से (**अधिष्ठानं**) ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है।

अर्थात् लोक में जैसे राजा का व्यवहार होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। राजा का व्यक्तिगत कोई स्वार्थ न भी हो, तथापि वह प्रजाजन के हित के लिए शासन करता है, व्यवस्था बनाये रखता है, दण्ड और पुरस्कार का विधान करता है। उसका अधिष्ठान व्यक्तिगत प्रयोजन से नहीं, अपितु लोक-व्यवस्था और उपकार की भावना से होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी जीवों के कर्मों का अधिष्ठाता है “स्वोपकारात्” अथवा “स्वरापकारात्” का आशय यहाँ यह है कि जीवों पर उपकार करने की वृत्ति से। ईश्वर को स्वयं कुछ प्राप्त करना शेष नहीं; वह पूर्ण है, सिद्ध है, सर्वज्ञ है। अतः सृष्टि-रचना या कर्मफल-विधान उसके किसी अभाव-पूर्ति के लिए नहीं है।

योग दर्शन में भी कथन किया है— **'तस्यात्मानुग्रहामावेऽपिभूतानुग्रहप्रयोजनम्'** [व्यासभाष्य १। २५] अर्थात् ईश्वर को अपने लिए किसी अनुग्रह की आवश्यकता नहीं, तथापि भूतमात्र के अनुग्रह के लिए उसका प्रयोजन है। जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन में आबद्ध हैं। उनके शुभाशुभ संस्कारों का संचय, उनके अनुभवों की आवश्यकता, और अन्ततः विवेकज्ञान की प्राप्ति इन सबकी एक क्रमबद्ध व्यवस्था है। इस व्यवस्था का संचालन एक सर्वज्ञ अधिष्ठाता के बिना सम्भव नहीं। राजा लोकहितार्थ शासन करता है; वह नियम इसलिए बनाता है कि प्रजा का संरक्षण और कल्याण हो। उसी प्रकार ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है ताकि जीव अपने कर्मानुसार फल पाकर परिपक्व हों, अनुभव से शिक्षित हों, और अन्ततः मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हों।

यदि कहो कि ईश्वर का जीवों पर उपकार पाया जाता है तो उसका भी अवश्य कोई अपना प्रयोजन होगा? उत्तर—

लौकिकेश्वरवदितरथा॥ ४॥ [षष्टितन्त्र ५/४]

भाष्य— जैसे प्रजा पर उपकार करने से राजा का अपना भी प्रयोजन सिद्ध हो जाता है क्योंकि प्रजा के हित से वह अपनी अनेक कामनाओं की पूर्ति करता है वैसे ईश्वर के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो 'पर्याप्तकाम' है, उसे किसी स्वार्थ की अपेक्षा नहीं। ईश्वर को आप्तकाम क्यों माने उसके मानने में क्या प्रयोजन है? उत्तर—

पारिभाषिको वा॥ ५॥ [षष्टितन्त्र ५/५]

भाष्य— (**वा**) यदि ईश्वर को आप्तकाम न माना जाय तो वह (**पारिभाषिकः**) नाममात्र का ईश्वर होगा।

यदि यह भी मान लिया जाए कि कर्मों के अधिष्ठाता होने से ही उनके फलों की सिद्धि होती है, तब भी इससे ईश्वर की सिद्धि अनिवार्य नहीं मानी जा सकती; क्योंकि अधिष्ठाता का होना सामान्यतः किसी प्रकार के राग अथवा प्रवृत्ति के बिना संभव नहीं माना जाता। इसी आशय से पूर्वपक्षी यह शंका उपस्थित करता है—

न रगाद्दतेतत्सिद्धि प्रतिनियत कारणत्वात्॥ ६॥ [षष्टितन्त्र ५/६]

भाष्य— (**प्रतिनियत कारणत्वात्**) प्रवृत्तिमात्र में नियमसे राग कारण होता है, इसलिए (**रागात, ऋते**) राग के बिना (**तत्सिद्धिः**) ईश्वर के अधिष्ठातृत्र की सिद्धि (**न**) नही हो सक्ती। इस शंका का समाधान करते हुए भगवान कपिल लिखते हैं—

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥ [षष्टितन्त्र ५/७]

भाष्य— (**तद्योगे**) इच्छारूप राग के होने पर (**अपि**) भी (**नित्यपुक्तः**) नित्यमुक्त ईश्वर (**न**) दूषित नहीं हो सक्ता।

भावार्थ यह है कि 'पर्याप्तकाम' होने से ईश्वर की इच्छा किसी स्वार्थ-साधन के लिए नहीं होती। अपितु "**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**" इस श्रुतिवचन के अनुसार उसकी ज्ञान, बल और क्रिया-शक्तियाँ स्वभावतः ही सिद्ध हैं। उपनिषद्-वाक्यों में ईश्वर की इच्छा को स्वाभाविक माना गया है, अतः उसके अधिष्ठातृत्व में कोई बाधा नहीं आती। और जीव की भाँति उसमें राग का अभाव होने पर भी उसके ईश्वरत्व में किंचित् भी न्यूनता नहीं होती। वादी पुनः शंका करता है—

प्रधानशक्तियोगात्संगापत्तिः ॥ ८ ॥ [षष्टितन्त्र ५/८]

भाष्य— (**चेत्**) यदि (**प्रधानशक्तियोगात्**) ईश्वर में प्रधान विषयक रागरूप शक्ति के योग से इच्छा मानी जाय तो (**सङ्गापत्तिः**) उसमें सङ्ग अर्थात् रागरूप दोष बना रहेगा।

सत्तामात्राच्चेतसर्वैश्वर्य्यम् ॥ ९ ॥ [षष्टितन्त्र ५/९]

भाष्य— (**चेत्**) यदि (**सत्तामात्रात्**) सत्तामात्रा से इच्छा मानी जाय तो (**सर्वैश्वर्य्यम्**) सब को ईश्वर मानना पड़ेगा।

उक्त शंका का समाधान करते हैं—

प्रमाणाभावान्नतत्सिदिः ॥ १० ॥ [षष्टितन्त्र ५/१०]

भाष्य— (**प्रमाणाभावात्**) प्रमाण के न होने से (**तत्सिदिः**) ईश्वर के रागयुक्त तथा पदार्थमात्र ईश्वर होने की सिद्धि (**न**) नही होसक्ती।

प्रकृति के साथ योग होने मात्र से ईश्वर को संसारी या रागयुक्त मान लेना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उसके रागी होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जिन

कारणों से सामान्यतः प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, वे यहाँ नहीं पाये जाते। अतः प्रत्यक्ष-प्रमाण से यह बात सिद्ध नहीं होती। और शब्दप्रमाण से भी केवल इतना ही प्रतिपादित होता है कि ईश्वर का प्रकृति के साथ योग स्वामिभाव-सम्बन्ध के रूप में है, न कि रागादि-दोषयुक्त संयोग के रूप में।

सिर्फ सत्ता-मात्र के योग से प्रत्येक पदार्थ को ईश्वर मान लेना भी उचित नहीं, जैसे सर्वव्यापक आकाश की सत्ता सब स्थानों में विद्यमान होते हुए भी घटादि व्याप्य पदार्थ आकाशस्वरूप नहीं हो जाते, उसी प्रकार ईश्वर की व्यापक सत्ता सर्वत्र व्याप्त होने पर भी व्याप्य वस्तुएँ ईश्वर नहीं हो सकतीं।

वादी पुनः कहता है की ईश्वर का रागी होना अनुमान से सिद्ध है। उत्तर—

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्॥ ११॥ [षष्टितन्त्र ५/११]

भाष्य— (**सम्बन्धाभावात्**) सम्बन्ध न होने से (**अनुमानम्**) अनुमान प्रमाण भी (**न**) नही हो सक्ता।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रयोजनवत्त्व' को आधार बनाकर ईश्वर में राग-दोष की सिद्धि करना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि स्वार्थरूप प्रयोजन का लिङ्ग ईश्वर से किसी प्रकार संबद्ध नहीं पाया जाता। वह 'पर्याप्तकाम' है, अतः उसमें अपनी किसी कामना-पूर्ति का प्रसंग ही नहीं उठता। इसलिए उसे जीव के समान रागयुक्त मानना उचित नहीं। अतएव वादी द्वारा प्रस्तुत अनुमान 'हेत्वसिद्धि' नामक दोष से दूषित होकर हेत्वाभास सिद्ध होता है; साथ ही उसमें 'अपर्याप्तकामत्व' की उपाधि भी निहित है, जिससे वह तर्क सर्वथा असंगत ठहरता है। इत्यादि।

पुनः वादी कहता है प्रकृति के साथ जो आपने स्वस्वामीभाव सम्बन्ध वर्णन किया है उसका प्रमाण क्या है? उत्तर—

श्रुतिरपिप्रधानकार्य्यत्वस्य॥ १२॥ [षष्टितन्त्र ५/१२]

भाष्य— (**प्रधानकार्य्यत्वस्य**) प्रकृति का कार्य ईश्वराधीन इस विषय में (**श्रुतिः, अपि**) श्रुति भी प्रमाण है।

अर्थात् कपिल महर्षि का स्पष्ट मत है कि जो वेदों में कहा है वह ही हमें अभीष्ट है। वेदों में प्रकृति के साथ ईश्वर का स्वस्वामीभाव सम्बन्ध बहुधा वर्णन किया है **"स भूमिञ्जनयन्देव एकः"** [यजु १७। १९] इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट प्रतिपादित है कि प्रकृति का कार्यरूप परिणमन ईश्वराधीन है, वह स्वतन्त्र नहीं। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ईश्वर अपनी प्रकृतिरूप शक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है; इस प्रकार वह निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण। जो सत्ता अपनी शक्ति से कार्य की उत्पत्ति करे और स्वयं अपने स्वरूप में किसी विकार को ग्रहण न करे, वह 'निमित्त कारण' कहलाती है; तथा जो अपने अवयवों के रूपान्तर से कार्य का निर्माण करे, वह 'उपादान कारण' कही जाती है। 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह भी सूचित होता है कि कर्ता के बिना कार्य की सिद्धि असम्भव है। इस प्रकार इस विषय में श्रुति के साथ तर्क-प्रमाण भी संगत रूप से उपलब्ध है।

यदि केवल विज्ञानस्वरूप या किसी विशेष सम्बन्ध की कल्पना से ही ईश्वर की सिद्धि मान ली जाए, तो फिर उसे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर—

नाविद्याशक्तियोगो निःसंगस्य॥ १३॥ [षष्टितन्त्र ५/१३]

भाष्य— (**निःसंगस्य**) असङ्ग ब्रह्म के साथ (**अविद्याशक्तियोगः**) अविद्या की शक्ति का योग (**न**) नहीं होसक्ता। इत्यादि अनेकों स्थान पर भगवान कपिल ने अपने ग्रंथ षष्टितंत्र में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख किया है तथा उन शंकाओं को भी निवृत किया है जो आज कल के नवीन फर्जी सांख्य पुस्तकों के नाम पर फैलाया जाता है। आगे भगवान कपिल अनिर्वचनीय अविद्यावादी के मत में दोष गिनवाते हुए कहते हैं—

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः॥ १६॥ [षष्टितन्त्र ५/१६]

भाष्य— (**विद्यातः**) विद्या से (**अन्यत्वे**) भिन्न मानने पर (**ब्रह्मबाधप्रसङ्गः**) ब्रह्म का बाध होगा।

अर्थात जैसे विद्या के द्वारा, विद्या से भिन्न अविद्या की निवृत्ति स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार यदि ब्रह्म को भी विद्या से भिन्न माना जाए, तो तुम्हारे मतानुसार उसका भी विद्या द्वारा बाध होना मानना पड़ेगा; क्योंकि जो वस्तु विद्या से भिन्न है, वह उसके

ज्ञान के उदय पर अविद्या के समान निरस्त हो सकती है। अब इससे स्पष्ट क्या प्रमाण चाहिए?

॥ वेद स्वतःप्रमाण ॥

पुनः वेद को अपौरुषेय कहते हैं—

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद् वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥ ४१ ॥ [षष्टितन्त्र ५/४१]

भाष्य— (**अपौरुषेयत्वात्**) अपौरुषेय अर्थात ईश्वर रचिर होने से और (**तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात्**) उसके अर्थ को अतीन्द्रिय होने से (**त्रिभिः**) तीन प्रमाणों से (**वेदस्य**) वेदार्थ की प्रतीति (**न**) नहीं होती।

निजशक्तिर्युत्पत्या व्यवच्छिद्यते ॥ ४३ ॥ [षष्टितन्त्र ५/४३]

भाष्य— (**निजशक्तिः**) शब्दार्थ का ईश्वरीय सङ्केत (**व्युत्पत्या**) बुद्धि से (**व्यवच्छिद्यते**) जाना जाता है।

इस सामान्य नियम के अनुसार जो भी कार्यरूप है वह अनित्य होता है। अतः यदि वेदों को कार्य माना जाए, तो कार्यत्व के कारण उन्हें भी अनित्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी अभिप्राय से पूर्वपक्षी यह आशंका उपस्थित करता है—

न नित्यत्वं वेदानां कार्य्यत्वश्रुतेः ॥ ४५ ॥ [षष्टितन्त्र ५/४५]

भाष्य— (**कार्य्यत्वश्रुतेः**) कार्य्यत्व पाए जाने से (**वेदानां**) वेदों की (**नित्यत्वं**) नित्यता (**न**) नहीं होसक्ती।

कोई यह आक्षेप कर सकता है कि कार्य होने से वेद तो जीव (मुक्तात्मा) ने रचे हैं इसका समाधान लिखते हैं—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ॥ ४६ ॥ [षष्टितन्त्र ५/४६]

भाष्य— (**तत्कर्त्तुः**) वेदों का कर्त्ता (**पुरुषस्य**) जीव के (**अभावात्**) न होने से (**पौरुषेयत्वं**) वेद कार्यरूप (**न**) नहीं।

वेदों का कोई मानव-कर्त्ता नहीं है, अतः वे कार्यरूप नहीं माने जा सकते; अपितु वे ईश्वरीय ज्ञानस्वरूप होने से नित्य हैं। क्योंकि जो ज्ञान ईश्वर का है, वह नित्य और

अविनाशी होता है। इसी भाव को "**एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेवैतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः**" (बृहदारण्यक २।४।१०) में व्यक्त किया गया है— कि उस महान् ब्रह्म का यह श्वासरूप ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद है। अर्थात् जैसे श्वास-प्रश्वास स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं, वैसे ही सृष्टि के आदि में ईश्वर से वेदों का आविर्भाव होता है।

शंका— वेदों का कर्ता जीव क्यों नहीं हो सकता? उत्तर—

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्॥ ४७॥ [षष्टितन्त्र ५/४७]

इस सूत्र में दो पद हैं— मुक्तामुक्तयोः। अयोग्यत्वात्। मुक्त अर्थात् जो जीव मोक्ष पा चुका है और अमुक्त जो जीव बद्ध है। दोनों ही वेदों के कर्ता नहीं हो सकते क्यों? क्योंकि वो अयोग्यत्वात् अयोग्य हैं। उनमें इतनी योग्यता ही नहीं है कि वो वेद को रच सके अतः इन मुक्त और अमुक्त से भिन्न एक तीसरा पुरुषविशेष है वह ही इसका रचयिता है। आगे सूत्र में उस तीसरे परमात्मा का उल्लेख करते हैं—

निजशक्तयभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्॥ ५१॥ [षष्टितन्त्र ५/५१]

भाष्य— (**निजशक्तयभिव्यक्तेः**) ईश्वरकी स्वाभाविकशक्ति द्वारा प्रकट होने से (**स्वतःप्रामाण्यम्**) वेद स्वतःप्रमाण हैं।

जैसे सूर्य अपने प्रकाश से स्वयं प्रकट होता है और अन्य को प्रकाशित करता है, वैसे ही ईश्वर की सर्वज्ञ शक्ति से वेद प्रकट होते हैं और धर्मतत्त्व का प्रकाश करते हैं। चूँकि मुक्त और अमुक्त जीव की अयोग्यता पूर्व सूत्र में प्रतिपादित हो चुकी है, अतः यहाँ "निजशक्ति" का आश्रय उसी परमात्मा में ग्रहण करना संगत है। वही सर्वज्ञ है, अतः धर्माधर्म, अदृष्ट, मोक्षमार्ग और परमसत्य का यथार्थ बोध रखता है। वही सर्वकर्ता है, अतः जगत्-व्यवस्था के अनुकूल वाङ्मय का प्रकटीकरण कर सकता है। और वही अनादि है, अतः उसके द्वारा अभिव्यक्त वेद का प्रामाण्य भी परतन्त्र नहीं, स्वतःसिद्ध है। कपिल ऋषि तो यहाँ तक कहते हैं कि—

श्रुतिविरोधान्नकुतर्कापसदस्यात्मलाभः॥ ३४॥ [षष्टितन्त्र ६/३४]

भाष्य— (**श्रुतिविरोधात्**) श्रुति के विरोध से (**कुतर्कापसदस्य**) वेदविरोधि तर्क से दूषित पुरुष को (**आत्मलाभः**) आत्मा की प्राप्ति (**न**) नहीं होसक्ती। इति॥ पुनः—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता॥ ११६॥ [षष्टितन्त्र ५/११६]

भाष्य— (**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु**) समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में जीव (**ब्रह्मरूपता**) ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को अपने में को धारण कर लेता है।

अब जो लोग सांख्य को एकरेखीय निरेश्वरवाद का पर्याय बताकर अपने को तत्त्ववेत्ता घोषित करते हैं, वे इस सूत्र को देखकर कुछ असहज अवश्य होंगे। जब स्वयं सूत्रकार "ब्रह्मरूपता" कह रहे हैं, तब उसे अनदेखा कर केवल अपने पूर्वग्रह को पोषित करना मूढ़ता है।

यदि हर बार "ईश्वर" या "ब्रह्म" पद को किसी प्रकार खींचतान कर अन्य अर्थ में ढाल दिया जाए, तो फिर शास्त्र का कोई निश्चित अर्थ शेष ही न रहेगा। यह प्रवृत्ति उस विद्यार्थी के समान है जो प्रश्नपत्र में स्पष्ट लिखे उत्तर को छोड़कर अपनी सुविधा का उत्तर लिख दे और फिर मूल्यांकन पर दोषारोप करे। यहाँ तक षष्टितंत्र में प्रतिपादित ईश्वर का उल्लेख किया गया।

॥ भगवत्पाद महर्षि पञ्चशिख और ईश्वर॥

तस्मिस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत॥ २॥ [कैवल्यतन्त्रम् सूत्र २]

भाष्य— तम की अवस्थिति में क्षेत्रज्ञ ही प्रथम अधिष्ठातारूप से विद्यमान था। यहाँ 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का प्रयोग हुआ है 'क्षेत्र' का अर्थ है यह समग्र देह अर्थात् प्रकृति। 'ज्ञ' का अर्थ है जानने वाला। उस तमरूपीप्रकृति का जानने वाला परमात्मा ही है। क्योंकि जीव उसे नहीं जान सकता जीव के लिए प्रकृति की वह अवस्था अव्यक्त है। क्योंकि जीव का ज्ञान सदा व्यक्त जगत् से सम्बन्धित होता है। वह अव्यक्त, मूल प्रकृति की उस आद्यावस्था का प्रत्यक्ष ज्ञाता नहीं हो सकता।

जीव का चैतन्य देह-उपाधि से सम्बद्ध है, और सृष्टिपूर्व तमोमय अव्यक्त अवस्था में देहादि का ही अभाव है। अतः उस अवस्था का साक्षी कोई सीमित जीव नहीं हो सकता। अतः यहाँ "क्षेत्रज्ञ" पद का ग्रहण व्यापक अर्थ में करना होगा उस परम चेतन

अधिष्ठाता के रूप में, जो प्रकृति की अव्यक्तावस्था में भी साक्षिरूप से स्थित है। वही प्रथम है अर्थात् सृष्टि-प्रपञ्च से पूर्व भी जिसकी सत्ता है। वही अधिष्ठाता है अर्थात् जिसके सन्निधान से प्रकृति का प्रवर्तन सम्भव होता है। अतः जब सब कुछ तमोमय अव्यक्त था, तब भी वह परम साक्षी विद्यमान था। वही प्रथम अधिष्ठाता है, वही प्रकृति का जानने वाला है, और उसी के कारण सृष्टि-प्रवर्तन की संभावना निहित है।

ईश्वर की विद्यमानता कहने के उपरांत महर्षि पञ्चशिख अगले सूत्र में उसी ईश्वर से अधिष्ठित हो प्रधान की प्रवृति होती है इसका प्रतिपादन करते हैं—

पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते॥ ३॥ [कैवल्यतन्त्रम् सूत्र ३]

भाष्य— अर्थात् प्रधान—जो प्रकृति का ही पर्याय है पुरुष के अधिष्ठान से प्रवृत्त होता है। यहाँ "प्रधान" शब्द प्रकृति की उस मूल, त्रिगुणात्मक, अव्यक्त सत्ता का बोधक है, जो समस्त सृष्टि का उपादान-कारण है। वह अनादि है, शक्तिसम्पन्न है, किन्तु जड़ है। उसमें स्वप्रेरणा का अभाव है। इसीलिए कहा गया "पुरुषाधिष्ठितम्।" उसके अधिष्ठान, उसके सन्निधान, उसके नियामक-संबन्ध से ही प्रधान में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जैसे चुम्बक की उपस्थिति में लौहकण विशेष प्रकार से व्यवस्थित हो जाते हैं, वैसे ही पुरुष-सन्निधान में प्रधान का साम्यभंग होकर सृष्टि-प्रवाह आरम्भ होता है। इसी अर्थ का प्रतिपादन महर्षि कपिल ने इस '**तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्॥ ९६॥** [षष्टितंत्र १/९६]' सूत्र में कर दिया था। महर्षि पञ्चशिख का वचन इस सूत्र की व्याख्या ही समझनी चाहिए। पुनः—

महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्॥ १४॥ [कैवल्यतन्त्रम् सूत्र १४]

भाष्य— (**महदादिविशेषान्तः**)'महत्' से प्रारंभ कर 'विशेष'-पर्यन्त, जो (**सर्गो**) सर्ग है, वह (**बुद्धिपूर्वकत्वात्**) बुद्धिपूर्वक होने से ही सम्भव है।

सांख्य के कुछ आलोचकों ने यह भ्रान्त धारणा बना ली है कि सांख्य में सर्वज्ञ चेतन के किसी प्रेरक अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया, किन्तु यह प्रवाद यथार्थ से सर्वथा भिन्न है। यदि यह मान लिया जाए कि यह सम्पूर्ण विश्व केवल जड़ उपादान-तत्त्व की स्वतन्त्र प्रवृत्ति से ही बना है, तो इतनी विस्तृत, सुनियोजित एवं संयत व्यवस्था कैसे सम्भव हो सकती है? पृथिवी का सूर्य के चारों ओर निश्चित परिधि में परिभ्रमण, चन्द्रमा की पृथिवी के चारों ओर स्थिति, ग्रहों-नक्षत्रों की यथावत् दूरी और उनका संतुलित

परिचालन यह सब एक नियामक और सूझ-बूझवाले बुद्धितत्त्व के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। जड़ उपादान तत्त्व में न तो विवेक-शक्ति होती है, न संवेग का उचित नियमन करने की क्षमता। केवल चेतन प्रेरणा के अधीन होकर ही वह इस प्रकार की व्यवस्था को धारण कर सकता है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति से सर्वप्रथम परिणाम होता है 'महत् तत्त्व', इसके पश्चात् इससे 'अहंकार' तत्त्व उत्पन्न होता है। अहंकार से द्विविध परिणाम प्रकट होते हैं तैजस और वैकारिक रूपों से इन्द्रियाँ तथा मन। तामस रूप से तन्मात्र तत्त्व। 'तन्मात्र' तत्त्व से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। यही पंचमहाभूत 'विशेष' के अन्तर्गत आते हैं। अतः सूत्र का "महदादिविशेषान्तः" पद महत् से लेकर पंचमहाभूतों तक की समग्र तत्त्व-श्रृंखला का द्योतक है। यही वह रचना है जिसे 'सर्ग' कहा गया है और यही सर्ग बुद्धिपूर्वक कहा गया है, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस बुद्धि का आश्रय कोई परम चेतन सत्ता है जो प्रकृति से भिन्न है, पर उसके अधिष्ठाता रूप में स्थित है। **अर्थात् परमपिता परमात्मा द्वारा प्रकृति रूपी उपादान से यह समस्त चराचर जगत् उत्पन्न किया गया।**

आगे महर्षि पञ्चशिख उस ईश्वर के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का बहुत ही अद्भुत वर्णन करते हुए लिखते हैं—

उत्पन्नकार्यकरणस्तु माहात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ हन्ताहं पुत्रान् स्त्रक्ष्ये ये मे कर्मकरिष्यन्ति ये मां परञ्चापरञ्च ज्ञास्यन्ति॥ १५॥

[कैवल्यतन्त्रम् सूत्र १५]

भाष्य— (**उत्पन्नकार्यकरणस्तु**) जिसने तन्मात्र, महाभूत, अहंकार, महत्, इन्द्रिय आदि समस्त कार्य (**परिणाम**) तथा करण की उत्पत्ति कर दी है, अर्थात् सम्पूर्ण कार्य-करण-समूह का कारण बना है, वह कौन है? कहते हैं (**माहात्म्यशरीर**) वह माहात्म्यरूप वाला है, अर्थात् गुणमय महत्ता से युक्त, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है वह परमेश्वर, परब्रह्म ही है। (**एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ**) उस परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जब अन्य कोई जीव या जगत् प्रकट न था तब स्वयं को एकाकी रूप में देखकर सृष्टि का संकल्प किया (**हन्ताहं**) 'अहो!' या 'हन्त!' यह आनंदोद्गार है जैसे सृष्टि-संकल्प के क्षण में परमेश्वर का हर्षोद्गार हो (**पुत्रान् स्त्रक्ष्ये**) मैं ऐसे पुत्रों जीवों की रचना करूँगा जो मेरी सृष्टि के भावी अंग होंगे (**ये मे कर्मकरिष्यन्ति**) वे जीव जो मेरे विधान के अनुसार मुझ तक पहुँचने हेतु कर्म

करेंगे अर्थात् जो धर्म, यज्ञ, तप, सेवा आदि द्वारा मुझमें प्रवृत्त होंगे (**ये मां परञ्चापरञ्च ज्ञास्यन्ति**) और वे ज्ञानी, जो मेरे 'पर' (अविकार, सर्वोत्कृष्ट, ब्रह्मस्वरूप) तथा 'अपर' (सृष्टिकर्ता स्वरूप) दोनों तत्त्वों को तत्त्वतः जानेंगे।

यह बताता है कि इस विश्व की उत्पत्ति केवल जड़ पदार्थों के संयोग से नहीं हुई, न ही यह कोई यदृच्छा या अन्धा संयोग है अपितु इसके मूल में एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दस्वरूप परम चेतन तत्त्व का सुविचारित संकल्प विद्यमान है। कि जिसने महत्, अहंकार, तन्मात्र, महाभूत, इन्द्रियाँ आदि सृष्टि के समस्त कार्य-करण-समूह को उत्पन्न किया, वही मूल कारण है। यहाँ 'कार्य' का तात्पर्य है जो तत्त्व परिणामस्वरूप प्रकट हुए पंचमहाभूत, देह, प्रपंच आदि। 'करण' का तात्पर्य है जिनके माध्यम से कार्यों का संचालन होता है इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि। इन सबका निमित्त एक ही है परमेश्वर। यहाँ शास्त्रकार इस तथ्य पर बल देते हैं कि इस सृष्टि का न कोई अकारण उद्गम हुआ है इसके पीछे एक मूल चेतन तत्त्व का सुविचारित संकल्प ही प्रधान है। इस संकल्प का वर्णन श्रुति में बहुधा हुआ है।

'माहात्म्य' शब्द का अर्थ है 'महान् गुणों से युक्त', 'असीम महत्ता वाला'। अथवा माहात्म्यशरीरः" वह परम तत्त्व जिसके लिए सम्पूर्ण चराचर जगत् शरीर के समान है। अर्थात् जिस प्रकार देह में आत्मा अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर देह का धारक, नियन्ता एवं प्रेरक होता है वैसे ही सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है, और परमात्मा उसका अन्तर्यामी।

उपनिषद भी इसी अर्थ को कहती है बृहदारण्यक उपनिषद् (३.७.३) "**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः। यं पृथिवी न वेद। यस्य पृथिवी शरीरम्। यः पृथिव्यामन्तरो यमयति स आत्मान्तर्याम्यमृतः।**" जो पृथिवी में स्थित होकर भी पृथिवी से भिन्न है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर पृथिवी को नियन्त्रित करता है वही अमृत, अन्तर्यामी, परमात्मा है।

सृष्टि के प्रारम्भ में अन्य कोई जीव, जगत्, काल या पदार्थ प्रकट नहीं था। केवल परमात्मा का अस्तित्व था। इसी को सूचित किया गया है "एकाकिनम् आत्मानम् अवेक्ष्य" अर्थात् परमेश्वर ने अपने को एकाकी रूप में देखा। स्वयं के अनन्त स्वरूप में स्थित परमात्मा ने अपने अस्तित्व का अवलोकन किया। इसी क्षण परमात्मा ने सृष्टि का

संकल्प किया 'अभिदध्यौ' यह शब्द संकल्पशक्ति का परिचायक है। परमात्मा का विचार मात्र सृष्टि के प्राकट्य का कारण बन गया।

परमात्मा ने कहा "**पुत्रान् स्रक्ष्ये**" मैं पुत्रों की रचना करूँगा। यहाँ 'पुत्र' शब्द का अर्थ जीवों से है। परमात्मा का उद्देश्य केवल प्राणी बनाना नहीं है अपितु ऐसे प्राणियों की रचना करना है जो उसके विधान के अनुसार धर्मपरायण कर्म करेंगे। 'ये मे कर्म करिष्यन्ति' का अर्थ है वे जीव मेरे विधान ऋत, धर्म, नियम के अनुरूप कर्म करेंगे जिससे वे अन्ततः मुझ तक पहुँच सकें। "**ये मां परञ्चापरञ्च ज्ञास्यन्ति**" इस पद में दो विशेष शब्द हैं 'पर' और 'अपर'। परमात्मा का कथन है कि उसके द्वारा सृष्ट किए गए जीव केवल कर्म तक सीमित न रहें, अपितु ज्ञान द्वारा उसे उसके दोनों रूपों में जानें। परमात्मा न केवल सृष्टिकर्ता (अपर रूप) है, बल्कि स्वयं साक्षात् ब्रह्म (पर रूप) भी है। ज्ञानीजन इन दोनों रूपों को तत्त्वतः जानकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। पुनः इसी सूत्र में आगे लिखते हैं—

एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः तस्मात् प्रत्ययसर्गः ॥ १५ ॥

[कैवल्यतन्त्रम् सूत्र १५]

भाष्य— (**एवम्**) उक्त प्रकार से (**तस्मात्**) उस (**ब्रह्मणः**) परब्रह्म के (**अभिध्यानात्**) अभिध्यान से अथवा चिन्तन से (**उत्पन्नः**) अभिव्यक्त हुआ (**तस्मात्**) इस कारण से यह (**प्रत्ययसर्गः**) प्रत्ययसर्ग कहा जाता है।

जब भूतादि कार्य और इन्द्रियादि करण उत्पन्न हो चुके, तब चेतन आत्मा में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि आदि भावनाएँ क्रमशः प्रकट होती हैं। इन भावनाओं का उदय तभी सम्भव है जब बाह्य उपकरणों का समूह पहले से उपस्थित हो क्योंकि चेतना बिना साधन के अभिव्यक्त नहीं हो सकती। अतः यह कहा गया कि ब्रह्म के अभिध्यान से भूत और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुए, और उन्हीं की सहायता से जीवात्मा के भीतर ज्ञानजन्य प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। यही वे प्रत्यय हैं जिनका सर्ग विपर्यय से लेकर सिद्धि तक मानव की अन्तःसृष्टि कहलाता है।

अब इससे स्पष्ट सांख्य में ईश्वर का क्या प्रमाण हो सकता है। जहां स्पष्ट '**ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः**' कह दिया गया हो अब भी यदि किसी को ना दिखे तो उसे

अपनी आंखे दान कर देनी चाहिए। तथा **"अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे..."** इस सूत्र में जो ईश्वर का वर्णन है वह मैं कर्ता-अकर्ता प्रकरण में वर्णित कर आया हूँ।

आगे एक श्लोक के द्वारा पुनः ईश्वर का कथन करते हुए लिखते हैं—

यत्र तत्र संवसंस्त्रिवर्गविच्छुछिः शुचिर्हि पञ्चविंशकः। तथैव षड्विंशकत्वमवबुध्यते यदा तदा शुचिर्भवेदिति॥ [कैवल्यतन्त्रम्]

भाष्य— जो व्यक्ति कहीं भी किसी भी आश्रम मे रहकर धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों से विरक्त रहता है, वह पञ्चविंशतितत्त्व का ज्ञाता होने के कारण वास्तव में शुद्ध कहा जाता है। और जब वह षड्विंशतत्त्व अर्थात् ईश्वर का भी बोध कर लेता है, तब वह पूर्ण रूप से शुद्ध अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

॥ ब्रह्मर्षि देवल और ईश्वर ॥

ब्रह्मर्षि देवल 'असित-देवल' के पुत्र थे महर्षि असित स्वंय सांख्य के आचार्य थे और उनके पुत्र देवल ऋषि भी सांख्य के आचार्य हुए सांख्य परम्परा में महर्षि देवल का नामोल्लेख 'जैगीषव्य' ऋषि के बाद आता है जैगीषव्य ऋषि स्वंय सांख्ययोग के महान आचार्य थे इनका उल्लेख 'सांख्यप्रवचन' भाष्य में महर्षि 'कृष्णद्वैपायन' ने किया है। यह 'जैगीषव्य' ऋषि, महर्षि 'पञ्चशिख' के ही समकालीन थे। महर्षि पञ्चशिख से ही इन्होने सांख्य विद्या प्राप्त करी थी। फिर उनसे देवल ऋषि ने। इस प्रकार सांख्य परम्परा के आचार्यों में ये साक्षात् भगवान् कपिल के ही अनुयायी हैं। इनका काल 'भगवान् श्रीराम चन्द्र' जी से भी पूर्व का है। जो कि आज से लगभग ९-१० लाख वर्ष पूर्व हुए थे। और देवल आदि ऋषि इससे भी पूर्व अर्थात् १० लाख वर्ष से भी पूर्व हुए थे। ये तो रही ब्रह्मर्षि देवल की सांख्य ज्ञान परम्परा अब उनके द्वारा प्रणीत ग्रंथ **'सांख्यप्रबोधसूत्र'** में ब्रह्म अर्थात् ईश्वर विषयक कुछ उल्लेखों को देखते हैं—

ब्रह्मवादी॥ [सांख्यप्रबोधसूत्र]

भाष्य— सांख्ययोगी को चाहिए कि वह 'ब्रह्मवादी' हो अर्थात् ब्रह्म का विचार करने वाला और ब्रह्मतत्त्व का उपदेश देने हो। यदि देवल ऋषि सांख्य के आचार्य होकर यह निर्देश

देते हैं कि “सांख्ययोगी ब्रह्मवादी हो” तो क्या आज के नवीन सांख्य वादी देवल ऋषि को सांख्य परम्परा से बाह्य बता देंगे?

त्यक्त्वा कलेवरं ध्यायन् परं याति महेश्वरम्।
एकान्तात्यन्तकं साङ्ख्यं परं ब्रह्म सनातनम्॥ [सांख्यप्रबोधसूत्र]

भाष्य— सांख्ययोगी शरीर को त्यागकर मृत्यु के समय परम तत्त्व का ध्यान करता हुआ महेश्वर अर्थात ईश्वर को प्राप्त होता है। जो एकांत (पूर्ण ध्यान का प्रतीक), सभी दुखों और बंधनों का अंत करने वाला, सांख्य ज्ञान का आधार, परम ब्रह्म और सनातन (शाश्वत) है। "साङ्ख्यं परं ब्रह्म सनातनम्" सांख्य मार्ग के द्वारा वह व्यक्ति विवेकी हो परमात्मा का साक्षात्कार करता है। यह ज्ञान व्यक्ति को उस सनातन ब्रह्म तक ले जाता है जो समय, जन्म और मृत्यु के बंधनों से परे है।

तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सांख्य ज्ञान का अनुसरण कर शरीर की आसक्ति और सांसारिक मोह-माया का त्याग करके ध्यान में लीन होता है, वह महेश्वर को प्राप्त करता है। जो सर्वोच्च ब्रह्म हैं, जो सनातन और शाश्वत सत्य हैं। इस अवस्था में पहुँचने वाला व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है।

॥ भगवान हारीत और ईश्वर ॥

महर्षि हारीत सांख्य के ही आचार्य थे और यह भी देवल ऋषि के ही समकालीन थे सभी ने सांख्य परम्परा में इनका नामोल्लेख किया है सांख्य पर ‘**मोक्षधर्मतत्त्वदर्शन**’ नाम से इनका ग्रंथ प्राप्त होता है उस ग्रंथ में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख हुआ जो हम आगे वर्णित करेंगे।

आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम्॥ [मोक्षधर्मतत्त्वदर्शन]

भाष्य— परमेश्वर (**आपः**) आपः, (**ज्योतिः**) ज्योति, (**रसः**) रस (**अमृतम्**) अमृत, (**ब्रह्म**) ब्रह्म, (**भूः**) भूः, (**भुः**) भुवः, (**स्वः**) स्वः, (**ओम्**) ओम् इन सब नामों वाला है।

यहाँ हारीत महर्षि ने परमेश्वर के विविध नामों का उल्लेख किया है कि एक ही अद्वितीय तत्त्व, अनेक दृष्टियों से अनेक नामों से अभिहित होता है। नाम भिन्न हो सकते

हैं, परन्तु नामी एक ही है। यह विविध नाम-समूह वस्तुतः परमात्मा के गुण, स्वरूप और तत्त्व की भिन्न-भिन्न झलकियाँ हैं।

'ओम्'— यह प्रणव, समस्त वेद का बीज है। माण्डूक्योपनिषद् में इसे सम्पूर्ण जगत् का प्रतीक कहा गया है अकार, उकार और मकार से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय का बोध होता है। अतः 'ओम्' केवल ध्वनि नहीं, वरन् समस्त सृष्टि का सार है। उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों का आश्रय जो है, वही प्रणव है। इस दृष्टि से परमेश्वर का नाम 'ओम्' है, क्योंकि वही जगत् का आदि, मध्य और अन्त है।

'आपः'— सामान्यतः 'आपः' का अर्थ जल है, परन्तु वैदिक प्रयोग में 'आपः' का अर्थ व्यापक तत्त्व भी है। जल सब ओर व्याप्त होकर जीवन का आधार है। उसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक है, अन्तर्यामी रूप से प्रत्येक कण में प्रत्येक जीव के हृदय में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार जल के बिना जीवन सम्भव नहीं, वैसे ही ईश्वर-सत्ता के बिना जगत् की सत्ता असम्भव है। अतः सर्वव्यापकता के कारण वह 'आपः' कहलाता है।

'ज्योतिः'— ज्योति का अर्थ है प्रकाश। सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी उसी के प्रकाश से प्रकाशमान हैं "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।" परमात्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप है। उसे प्रकाशित करने वाला कोई अन्य नहीं। अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला जो अन्तःप्रकाश है वही परमेश्वर है। अतः वह 'ज्योतिः' है।

'रसः'— उपनिषद् कहती है **"रसो वै सः।"** यहाँ 'रस' का अर्थ आनन्द का परिपूर्ण अनुभव है। भक्त के लिए परमात्मा ही परमानन्द का विषय है। जब मन संसार के विषयों से निवृत्त होकर ईश्वर में स्थित होता है, तब जो माधुर्य, जो आत्मतृप्ति अनुभव होती है, वही परम-रस है। इसीलिए परमेश्वर 'रस' कहा गया है वह स्वयं आनन्दस्वरूप है और आनन्द का आश्रय भी है।

'अमृतम्'— जो मृत्यु से परे है, जो काल के अधीन नहीं वही अमृत है। देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब परिवर्तनशील हैं। परन्तु परमात्मा नित्य, अविनाशी, अजर-अमर है। वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है। उसके साक्षात्कार से जीव भी अमृतत्व का अंश अनुभव करता है। अतः नित्यता और अविनाशित्व के कारण वह 'अमृतम्' है।

'ब्रह्म'— 'बृह्' धातु से 'ब्रह्म' शब्द बना है, जिसका अर्थ है विस्तार, महानता। जो अनन्त है, सर्वोत्कृष्ट है, सर्वाधार है, वही ब्रह्म है। सीमित वस्तु ब्रह्म नहीं हो सकती। ब्रह्म वह है जो सब सीमाओं का अतिक्रमण करता है देश, काल और वस्तु की मर्यादाओं से परे है। अतः महानतम होने से परमेश्वर 'ब्रह्म' कहलाता है

'भूः'— यह सत्स्वरूप का द्योतक है। 'भू' धातु का अर्थ है होना अथवा अस्तित्व। जो नित्य सत्ता है, जो सबको अस्तित्व प्रदान करता है, वही 'भूः' है। जगत् की प्रत्येक सत्ता उसी से आश्रित है। स्वयं वह किसी पर आश्रित नहीं। इसीलिए उसे 'सत्' कहा गया है।

'भुवः'— यह चित्स्वरूप का बोध कराता है। चेतना, ज्ञान और अनुभूति का मूल स्रोत वही है। अतः परमेश्वर 'भुवः' है।

'स्वः'— यह आनन्द और परम उत्कर्ष का प्रतीक है। स्वर्ग शब्द भी इसी से सम्बन्धित है, जो सुख और प्रकाश का क्षेत्र माना जाता है। परमात्मा परमानन्दस्वरूप है। उसमें दुःख, शोक या अपूर्णता का लेश भी नहीं। जो आत्मानुभूति में परमानन्द का अनुभव कराता है, वही 'स्वः' है।

इस प्रकार 'ओम् भूर्भुवः स्वः' से लेकर 'आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म' तक, ये सब नाम मिलकर परमात्मा के सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का समग्र चित्र प्रस्तुत करते हैं। वह सर्वव्यापक भी है, सर्वप्रकाशक भी, आनन्दमय भी है, अमर भी, महान् भी है और अन्तरंग भी है। ऐसे परमेश्वर का हम स्तवन करते हैं उसका सूक्तिगान करते हैं। यह सब ईश्वर का वर्णन सांख्याचार्य ब्रह्मर्षि हारीत के ग्रंथ में हुआ है।

अतः भगवान् कपिल, पञ्चशिख, देवल तथा हारीत आदि सांख्याचार्य ऋषियों के प्रमाण से यहां यह सिद्ध हो चुका है कि सांख्य में ईश्वर का कहीं भी किंचित मात्र भी निषेध नहीं है अपितु सांख्य में तो ईश्वर का वर्णन बहुत अधिक विस्तृतता के साथ किया गया है।

कुछ लोग बड़े आत्मविश्वास से कहते हैं "सांख्य तो निरीश्वरवादी है।" और जब पूछा जाए किस मूल ग्रन्थ में स्पष्ट निषेध है? तो उत्तर मिलता है वो 'कारिका' में ऐसा कहा गया है। अद्भुत। कपिल को बिना पढ़े केवल एक पंक्ति पकड़कर 'निरीश्वर' का

झण्डा उठा लेना कोरी बकवृत्ति के अतिरिक्त कुछ नही है। कभी-कभी लगता है, कुछ लोग ऐसे हैं जैसे किसी ग्रन्थ का पहला पृष्ठ पढ़कर ही स्वयं को “सांख्याचार्य २.0” घोषित कर देते हैं। जैसे ‘कारिकाकार ईश्वरकृष्ण’।

यदि प्रकृति जड़ है पुरुष अकर्मा साक्षी है तो यह सृष्टि संयोजन किसकी व्यवस्था से चल रहा है? या फिर मान लिया जाए कि त्रिगुण स्वयं ‘टाइम-टेबल’ बनाकर ब्रह्माण्ड चला रहे हैं? और जब परम्परा में पञ्चशिख आदि आचार्य ईश्वर का उल्लेख करते हैं। तब इनका मुख पीतल के समान पीला हो जाता है ना ही इन आचार्य का ये कहीं उल्लेख करते पाए जाते हैं। यह तो वही बात हुई कि सूर्य के नीचे खड़े होकर कोई कहे 'यहाँ तो प्रकाश है ही नहीं'। सत्य तो यह है कि सांख्य रूपी वह दैदीप्यमान सूर्य सदैव विद्यमान है, किंतु सांख्यकारिका रूपी सघन मेघों ने उसकी किरणों को आपकी दृष्टि से ओझल कर दिया है। जब तक आप इन दुरव्याख्यारूपी मेघों का निवारण नहीं करेंगे, तब तक उस 'सूर्य-नारायण' के वास्तविक स्वरूप का दर्शन असंभव है।

॥ इति सांख्येश्वरनिर्णय ॥

॥ देवता निर्णय ॥

[देवता निर्णय अर्थात देवता तत्त्वार्थ विवेक]

वेदों में अनेक देवताओं का वर्णन उनकी स्तुति, प्रार्थना आदि है पुनः ब्राह्मण ग्रंथों में देवताओं का विशेष विवरण है अनेक कथाएं, उनकी उत्पत्ति, आदि। यज्ञ में तो देवताओं का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। "एक बड़ा प्रश्न इनके स्वरूप पर या ये क्या हैं इस विषय पर लोगों के बीच विद्यमान है। कोई कहते हैं यह चमत्कारी पुरुषविध शरीर वाले हैं; इनका निवास स्थान अनेक चमत्कारी लोक है, ये आकाश में विचरते है, ये प्रसन्न हो जाए तो रंक को भी राजा बना दे और जो अप्रसन्न हो जाए तो राजा को रंक बना दे । इनकी शक्ति अपरंपार है। इंद्र, वरुण, वायु, यम, कुबेर, आदि अनेक देवता सृष्टि के अनेक कार्य संभालते है। इनके रूप क्रोध में बड़े भयंकर और प्रसन्नता में अति मनोहर है। इनकी कथाएं पुराणों में खूब भर भर के हैं, भारत का कोई मंदिर ऐसा नहीं जिनमें इन देवताओं को चित्रित करती कलाकृतियां न हो, इनको चित्रित करती कोई मूर्तिन हो। यज्ञ में आहुति इनके लिए ही दी जाती है ताकि ये यजमान को फल दें। यह भारत में अनेक देवतावाद जो आज चरम पर है इसका मूल वेदों को ठीक न समझने के कारण है क्योंकि वेदों में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते॥ न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥ नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते॥ तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव॥ [अथर्ववेद 13/4/16,17,18,12] अर्थात वह परमात्मा एक है दो, तीन,पांच, नहीं।

इतना ही नहीं वेदों में अंततः एक ही ईश्वर है यह बात तो विदेशी विद्वानों को भी माननी ही पड़ी थी, Professor Max Muller को उदाहरण रूप में देते है—
Still it was achieved; and whatever is the age when the collection of our Rig-veda-samhitâ was finished, it was before that age that the conviction had been formed that there is but One, One Being, neither male nor female, a Being raised high above all the conditions and limitations of personality and of human

nature, and nevertheless the Being that was really meant by all such names as Indra, Agni, Matarisvan, nay even by the name of Pragâpati, lord of creatures. [page 52, The Six Systems of Indian Philosophy]

Being of God, and after trying a thousand names for God in vain, we find him in the Veda already saying: They call Him Indra, Mitra, Varuna; then they call Him the Heavenly, the bird with beautiful wings; - that which is One they call in various ways; they call it Agni, Sama, Matarisvan [Page 173, The Life and letters of the right honourable Friedrich Max Muller Volume 1]

वेदों का इतनी स्पष्ट घोषणा करने के बाद भी लोग वेदों में अनेक देवता की पूजा होना मानते है और उसी आधार पर आज के पौराणिक देवताओं को सिद्ध करते है। यथार्थ में यह देवता है क्या? कोई पुरुषविध विग्रहवान अलौकिक जीव? इसका निर्णय कैसे हो, हम देवता का अर्थ कैसे जाने? इनका क्या उपयोग है? क्या ये हैं भी या नहीं? इत्यादि अनेक प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें ईश्वर और ऋषियों की शरण में जाना होगा। इसलिए अब अनेक वैदिक ग्रंथों से इन देवताओं का रहस्य सुलझाने का प्रयास करता हूं। आप लोग ध्यान से पढ़े और लाभ उठाए ।

देवता शब्द का अर्थ देवता क्या है इसे जानने के लिए प्रथम देवता शब्द का अर्थ देखना चाहिए। निरुक्त में महर्षि यास्क कहते है— **देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, घुस्थानो भवतीति वा॥** [निरु० अ० ७ खं० १५]

अर्थात— दान देने से देव नाम पड़ता है, और दान कहते हैं किसी वस्तु के विषय में अपने स्वामिपन को छोड़ते हुए दूसरे के स्वामिपन को उत्पन्न करना। दीपन कहते हैं प्रकाश करने को द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को। इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं। तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देनेवाले होने से देव कहाते हैं। (दीपन) अर्थात् सब मूतिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम देव है। (द्योतन) तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालन,

विद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं। वैसे ही सुर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं। [ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका महर्षि दयानंद कृत]

महर्षि ने अत्यंत सुंदर अर्थ किया है। जितने प्रकार के देवता है सबका उल्लेख इसमें हो ही गया है। वैसे तो देवता शब्द के अर्थ इंद्रियां आदि बहुत है किंतु हम कितने प्रकार से देवता मानते है अभी उसका उल्लेख करते है बीच बीच में देवता शब्द के अन्य अर्थ भी पाठकों को दिख जाएंगे।

देवता शब्द से किन-किन का ग्रहण?

```
देवता
 │
 ├──── 1) वेद के मंत्र का विषय, जिसका वर्णन मंत्र में हो
 │
 ├──── 2) जड़ देवता
 │          │
 │          ├──── विग्रहवान
 │          │        └──── अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र आदि
 │          │
 │          └──── अविग्रहवान
 │                   └────
 │         • बारह आदित्य (बारह मास), द्यौ, अंतरिक्ष
 │         • मन, रुद्र, वायु, मंत्र आदि
 │         • संसार में कार्य करती रुद्र, विष्णु आदि संज्ञक
 │           परमात्मा की शक्तियाँ
 │
 └──── 3) चेतन देवता
       │
       ├──── मूर्तिमान
       │          └──── माता, पिता, आचार्य, अतिथि,
       │                 वसु, रुद्र आदि संज्ञक मनुष्य
```

|
└──── अमूर्तिमान
  └──── परमात्मा

तीन मुख्य भेद हमने सुगमता के लिए किए है। इस मानचित्र में आपको स्पष्ट दिख रहा है कि देवता शब्द से किन किन का ग्रहण अनेक वैदिक शास्त्रों में किया गया है। यह तो सुगमार्थ है किंतु अनेक शास्त्रों के प्रमाण इस विषय में अपेक्षित है जिससे हम निश्चय से कह सकते है कि जो जो हमने इस चित्र में लिखा है वह सत्य है। अब विस्तार से एक एक प्रकार का व्याख्यान करते है। जिससे इस विषय में लेश मात्र संदेह न रह जाए।

१)वेद मंत्र का विषय सर्वानुक्रमणी में कहा है— 'या तेनोच्यते सा देवता'।

इन तीन पदों में 'या' वस्तु के लिए है, 'तेन' मन्त्र की ओर संकेत करता है और 'उच्यते' क्रियापद है। इन तीनों को मिलाकर अर्थ बनता है जिस वस्तु को वह मन्त्र कहता है, अर्थात् जिस वस्तुतत्व का वर्णन करता है वह वस्तुतत्त्व ही उसका देवता है। सर्वानुक्रमणी के देवताविषयक इस लक्षण की व्याख्या करते हुए षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थ प्रदीपिका में लिखाहै— **'तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता।'** शब्दों का समुदाय वाक्य कहलाता है। शब्दमय वाक्य अर्थ को प्रकट करने का साधन है। अतएव वास्तविक महत्त्व शब्दों का नहीं, उनके साध्य अथवा लक्ष्य अर्थ, भाव या प्रतिपाद्य वस्तु का है। जिन मन्त्रों में कोई शब्द चिह्न अथवा लिङ्गरूप में स्पष्ट दीख पड़े उन्हें तद्दैवत मन्त्र जान लेना चाहिए। किन्तु संज्ञापद चिह्न का काम भले ही दे, उसके आधार पर देवता का अन्तिम रूप से निश्चय नहीं किया जा सकता। देवता का निश्चय करने के लिए मन्त्रगत वस्तुतत्त्व को ही सामने रखना होगा। देवता वही होगा जिसका मन्त्र में वर्णन होगा। इसीलिए कहा है कि ऋषि जिस अर्थ का प्रकाश करने की कामना करते हुए जिस देवता का वर्णन करते हैं, वही उस मन्त्र का देवता होता है। इस प्रकार एक ही मन्त्र के अनेक देवता हो सकते हैं।

अब इस विषय में भी लोगों में अनेक भ्रांति है। महर्षि दयानंद जी के वेद भाष्य पर लगाए गए आरोपों में एक, मंत्र के देवता विषयक भी है। उन सब का उत्तर यहां नीचे लिखते है।

प्रश्न— वेदों के देवता जैसे सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता इत्यादि ग्रंथों में दिए है बस वही हो सकते है उनसे भिन्न नहीं। किंतु इसके विपरीत दयानंद सरस्वती जी ने अनेक देवता स्वयं से कल्पित कर मान लिए है।

उत्तर— आप जैसों का ज्ञान अभी महर्षि दयानंद जी के सामने धूल बराबर भी नहीं है। हम आपसे सीधे पूछते है यदि देवता बस वही हो सकता है जो सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में लिखा है तो बताइए यदि दोनों में परस्पर विरोध हो तो किसे मानेंगे? उदाहरण के लिए—

बृहद्देवता के अनुसार ऋग्वेद 10/18/10-13 में देवता पृथ्वी है जबकि सर्वानुक्रमणी में देवता पितृमेध है। २) ऋग्वेद 10/17/3 का देवता बृहद्देवता में अग्नि और सर्वानुक्रमणी में पूषा दिया हुआ है। बोलिए क्या अग्नि और पूषा एक ही हैं? क्या पृथ्वी और पितृमेध एक ही हैं? जब दोनों ऋषियों ने एक ही मंत्र का अलग देवता मान लिया फिर आप कैसे कह सकते है जो देवता नियत है उसके अलावा कोई देवता नहीं हो सकता? इतना ही नहीं अपितु—

निरुक्त 12/30 में ऋग्वेद 10/60/3 सूक्त का देवता 'पवीरवी वाक' लिखा है जबकि सर्वानुक्रमणी में 'चतसृभिरसमातिमस्तुवन्' अर्थात असमाति राजा की स्तुति देवता वाला बताते है और बृहद्देवता में 'ऋग्भिरेति चतसृभिस्तत ऐक्ष्वाकुमस्तुवन्' अर्थात इक्ष्वाकु की स्तुति लिखा है। अब बताइए क्या यास्क ने भी महर्षि दयानंद की तरह सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता से अलग देवता कल्पित नहीं किया? सायण ने भी राजा की स्तुति ही मानी है कहिए क्या उनको भी निरुक्त न दिखा? ऐसे अनेकों उदाहरण दिए जा सकते है पर हमारा कार्य इतने से ही हो गया है।

प्रश्न— देखो तुम्हारे दयानंद सरस्वती ने यजुर्वेद अध्याय 18 मंत्र 24 और 25 का गणितविद्या देवता लिखा है।

उत्तर— तो क्या हो गया? आप ही के आचार्य तो कहते है मंत्र में जिसका वर्णन हो वह उसका देवता होता है अब मंत्र में स्पष्ट सम और विषम संख्या का उल्लेख है फिर क्यों न माने गणित विद्या देवता? हम क्या समस्त परंपराएं वेद को ईश्वर द्वारा प्रदत्त मानती है फिर क्या सृष्टि के शुरुवात में आए वेदों में सिर्फ यज्ञ के ईंट लगाने के लिए यह मंत्र आया था? बिल्कुल नहीं; स्पष्टता ईश्वर गणित का ज्ञान मनुष्यों को इस मंत्र से देता है।

जो आप सोचते है यह कल्पना से बनाया देवता है सो तो उसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है किंतु पुनः उसका उत्तर लीजिए। दुर्गाचार्य अपने निरुक्त दैवत कांड के भाष्य में लिखते है **'कामतो देवता कल्प्याः'**। [निरुक्त अध्याय 10 पाद 2 खंड 3] अर्थात— इच्छानुसार देवता की कल्पना कर लेनी चाहिए। कहिए अब तो आप भी मानेंगे कि देवता की कल्पना ऋषि, आचार्यों द्वारा की जा सकती है!

प्रश्न— देखो [निरुक्त 6/22] में [ऋग्वेद 1/162/7] मंत्र को अश्वमेध यज्ञ का माना है किंतु दयानंद सरस्वती ने उसका देवता 'मित्रादयो लिङ्गोक्ताः' लिखा है और जो अर्थ किया है उसमें भी अश्व को अग्नि रूप से व्याख्यात माना है और यजुर्वेद में इस मंत्र का अर्थ करते हुए इसका विषय लिखा है "फिर किन से क्या लेवे इस विषय को इस मंत्र में लिखते है"। इन दोनों अर्थों का अश्वमेध यज्ञ से कोई संबंध नहीं है। इसी कारण दयानंद का वेद भाष्य त्याज्य है।

उत्तर— धन्य हैं आप जैसे महा मूर्ख धन्य हैं। प्रथम तो यह की निरुक्त में यह लिखा है कि यह मंत्र अश्वमेध यज्ञ में प्रयुक्त है, किंतु महर्षि ने यह कब कहा कि नहीं है? रही बात देवता की सो आप निपट अंधे ही है जब एक मंत्र में अनेक देवताओं का वर्णन हो तब एक देवता न मानकर उस मंत्र में जितने देवता का चिन्ह मिल रहा है उसको लिंगोक्त शब्द करके लिखा जा सकता है अर्थात इस मंत्र का देवता वह है जो इस मंत्र में दिख रहा है। विश्वास न हो तो महीधर और उवट का यजुर्वेद भाष्य देखें—

मे॒धां मे॒ वरु॑णो ददातु मे॒धाम॒ग्निः प्र॒जाप॑तिः। मे॒धामिन्द्र॑श्च वा॒युश्च॑ मे॒धां धा॒ता द॑दातु मे॒ स्वाहा॑॥१५॥ [अध्याय 32 (सर्वमेध से संबंधित मंत्र)]

इस अध्याय का विषय सर्वमेध यज्ञ है किंतु महीधर और उवट इस मंत्र के भाष्य में लिखते हैं 'लिंगोक्त देवता'। कहिए मंत्र 'सर्वमेध यज्ञ' का फिर लिंगोक्त देवता क्यों लिखा? ऐसे अनेक उदाहरण है किंतु यहां एक ही देते हैं। और मित्र आदि शब्द लिखने से 'अश्व' का ग्रहण देवता में स्वतः हो जाता है। अब रही 'अश्वमेध' से संबंधित होने की बात, तो महर्षि दयानंद का ऐसा कौन सा अर्थ है जो 'अश्वमेध' से संबद्ध नहीं किया जा सकता? पूरा ऋग्वेद का [1/162] भी किया जा सकता है तब अर्थ बनेगा कि अश्वमेध में 'सवनीया पशु' की क्रियाओं को करते हुए अश्वरूपी अग्नि का विज्ञान यज्ञ में बताया जाता है अन्यथा राष्ट्र में किससे क्या उपकार ले यह बताया है जो कि राष्ट्र की

उन्नति में सहायक है। दोनों ही अर्थ से "**राष्ट्रं वा अश्वमेधा**" की भावना को ऋषि ने बड़े अच्छे से अपने अर्थों में बनाए रखा है। दूसरा यदि अर्थ संबंधित नहीं है तो भी क्या? स्वामी दयानंद ने कब कहा कि मैं मात्र याज्ञिक अर्थ करूंगा? याज्ञिक अर्थ न करने से उनका अर्थ किसी के विरुद्ध नहीं हो जाता। यदि ऐसा मानोगे तब तो यास्क, दुर्ग, स्कंद के किए हुए आध्यात्मिक अर्थ व्यर्थ हुए क्यों कि आपके अनुसार सब मंत्रों का याज्ञिक अर्थ ही होना चाहिए था। यह तो प्रसिद्ध बात है कि वेद के मंत्र के अनेक अर्थ संभव है। यदि कोई आध्यात्मिक अर्थ करता है अथवा आधिदैविक इससे अधियाज्ञिक अर्थ का खंडन नहीं हो जाता। आप लोगों को यज्ञ का, शतपथ आदि का तत्त्वार्थ नहीं पता है स्वामी दयानंद को था इसीलिए उन्होंने ऐसे अच्छे और सच्चे अर्थ किए है, नाकी महीधर, उवट, सायण, जैसे भ्रष्ट अर्थ।

२) जड़ देवता

अब जड़ देवताओं का व्याख्यान करते हैं। जड़ देवता ऐसे देवता है जिनमें चेतनता का अभाव है, यह न तो प्रसन्न होते है न क्रोधित, सबको एक सामान फल देने वाले है। जैसे सूर्य, अपनी किरणे सबको प्रदान करता है, वह न क्रोध में किसी को अपनी किरणों से वंचित करता है न तो किसी को प्रसन्न होकर ज्यादा मात्रा में अपनी किरणे देता है। यही चंद्र, वायु, धोलोक, अंतरिक्ष, आदि का हाल है। यह दो प्रकार के है एक मूर्तिमान (विग्रहवान) अर्थात दिखने वाले, जिनका आकार है, जो साकार है, जैसे सूर्य, चंद्र, अग्नि, इत्यादि और दूसरे ऐसे जो अमूर्तिमान (अविग्रहवान) है, जिनका कोई आकार नहीं, जो निराकार हैं, जैसे कि बारह आदित्य (बारह मास), वायु, अंतरिक्ष, द्यो, इत्यादि। ऐसे 33 देवताओं की गणना शतपथ ब्राह्मण में दी गई है।

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ। कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच॥ १॥ कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति। त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति अध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति॥ २॥ स होवाच। महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमेते

त्रयस्त्रिरशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिः शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीद सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिद सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ ४॥ कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति॥ ५॥ कतम आदित्या इति। द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीद सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदः सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥ ६॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ७ ॥ कतमेषडिति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडित्येते ह्येवेदः सर्वं षडिति॥ ८॥ कतमे ते त्रयो देवा इति इम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यत्रं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति॥ ९॥ तदाहुः। यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदः सर्वमध्यार्ध्योत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते॥ १०॥ [शत० १४।६।९।१-१०]

भाषार्थ— उसके पीछे उसको चतुर शाकल्य ने पूछा— हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? उसने उसी बुद्धि से प्रतिपादन किया जिससे सारे विद्वान् प्रतिपादन करते हैं तीन और तीन सौ और तीन, और तीन हज़ार ऐसा ऐसा कहा॥ १॥ कितने देव हैं हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा पूछा। तेतीस हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा हे याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं ? छह हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं? तीन हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा कितने देव हैं याज्ञवल्क्य ! दो हैं, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा कितने देव हैं याज्ञवल्क्य ! डेढ़ है, ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा कितने देव हैं याज्ञवल्क्य ! एक है, तब ऐसा उत्तर दिया। फिर पूछा वे कौन-से तीन और तीन सौ तीन और तीन हज़ार देव हैं ?॥ २॥ वह बोला- ये सब इनकी ही महिमाएँ हैं, वैसे देवता तो तैंतीस ही हैं। वे कौन-से तैंतीस देवता हैं ? आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य ये इकतीस, इन्द्र और प्रजापति कुल तैंतीस हुए॥ ३॥ कौनसे वसु हैं? अग्नि, पृथिवी, वायु, आकाश, आदित्य, जल, चन्द्रमा, नक्षत्र- ये आठ वसु हैं। इनका वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और यही सबके निवास करने के स्थान हैं॥ ४॥ कौनसे रुद्र हैं ? ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं जो शरीर में दश प्राण हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवाँ जीवात्मा है, क्योंकि जब ये इस शरीर से निकल जाते हैं

तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं। वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे इनका नाम रुद्र है ॥ ५ ॥ इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं, क्योंकि सब जगत् के पदार्थों का आदान, अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं। इसी से इनका नाम आदित्य है ॥ ६ ॥

ऐसे ही इन्द्र नाम बिजली का है, क्योंकि यह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है ॥ ७ ॥ कौन-से छह देवता हैं ? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और जल ये छह देवता हैं ॥ ८ ॥ कौन-से तीन देवता है ? यही तीन लोक अर्थात् स्थान, नाम और जन्म, क्योंकि इनमें ही सब देवता हैं। कौन-से दो देवता हैं ? अन्न और प्राण दो देवता हैं ? कौन-सा अध्यर्ध देव है ? ॥ ९ ॥ वायु का नाम अध्यर्ध देव इसलिए है कि वह सबका धारण और वृद्धिकर्ता है। कौन एक देव है ? ब्रह्म एक देव है, ऐसा कहा जाता है ॥ १० ॥

यद्यपि ये जड़ देवता हमारे इस जीवन के लिए बहुत उपयोगी है तथापि इन्हें रचने वाला परमेश्वर ही पूजनीय है। परमात्मा अत्यंत दयालु है इस कारण हम मनुष्यों के उपकारार्थ उसने वेदों में अपने बारे में तो बताया ही साथ ही इन प्रकृति में रहने वाले देवताओं के बारे में भी बता दिया ताकि मनुष्य इस प्रकृति का ठीक उपयोग कर सुगमता से मोक्ष सुख प्राप्त कर सके। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वेदों में प्रकृति की पूजा विहित है। पूजनीय तो एक वही परमात्मा है।

ऐसे ही प्रकृति में अनेक शक्तियां विद्यमान है जो परमात्मा ने ही रची हैं जो इस प्रकृति को नियम में बांधे हुए है उनमें से जोड़ने की शक्ति को विष्णु, नष्ट करने की शक्ति को रुद्र, सूर्य की किरणों को ऋभू देवता, आदि यह सब दैविक जगत में और अध्यात्म में यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे की उक्ति से जो जो देवता प्रकृति में है वह वह शक्तियां इस शरीर में भी विद्यमान है, ब्राह्मण ग्रंथों में दैविक, आध्यात्मिक आदि व्याख्यान भरे पड़े है। जैसे विष्णु का वामन रूप में तीन लोकों को नापना दैविक जगत में सूर्य का तीनों लोकों पर क्रमण करना है वहीं अध्यात्म में विष्णु शक्ति का योगी द्वारा शरीर में विद्यमान पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यो लोक का क्रमण करने में अर्थ है। शरीर में द्यो लोक शिर है, अंतरिक्ष हृदय

से लेकर उदर तक अंतरिक्ष, उसके नीचे पैरों तक पृथ्वी स्थान है। योगी विष्णु शक्ति के क्रमण द्वारा अपने अंदर के समस्त असुरों को जीत लेता है।

एक और उदाहरण त्रिपुर नाश का है। दैविक जगत में मेघों में विद्यमान रुद्र (बिजली, अग्नि) त्रिपुरो का नाश करता है वहीं अध्यात्म जगत में रुद्र अग्नि से योगी अपने शरीर की बुद्धि में विद्यमान त्रिपुरों का नाश कर, चित्त की शुद्धि करता है।

यह समस्त देव सिर्फ प्रकृति में ही नहीं मनुष्य के शिर में भी विद्यमान है। उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों में इसकी खूब चर्चा है। यास्क के निरुक्त अनुसार यह सारे जड़ देवता स्थान भेद से तीन भागों में विभाजित है, पृथ्वीस्थानी, अंतरिक्षस्थानी, धोस्थानी,। सूर्य, चंद्र, आदि वसु द्योलोक के देवता है, अग्नि पृथ्वीस्थानी है, वायु अंतरिक्षस्थानी। इन सब का विस्तार से व्याख्यान निरुक्त शास्त्र में देखो। इससे संबंधित आक्षेपों का समाधान लेख में आगे किया जाएगा।

३) चेतन देवता

चेतन देवता ऐसे देवता जिनमें चेतना है। देवता का सामान्य अर्थ जो हमें कुछ दे वह है। अब मनुष्य के जीवन में आचार्य, माता, पिता, अतिथि, ये चार मूर्तिमान देवता है। माता पिता पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं यह तो साक्षात् देवता हैं। आचार्य वह है जो शिष्य को नया जीवन देता है, जो उसे उसका वर्ण प्रदान करता है।

आचार्य ही तो ज्ञान का महासागर अपने शिष्य को प्रदान कर देता है जिससे समाजऔर राष्ट्र काकल्याण हो। अतिथि अर्थात विचरण करता हुआ सन्यासी। इतिहास उठा के देख लीजिए समर्थ रामदास, विद्यारण्य, आदि संन्यासियों ने कितने योग्य शिष्य उत्पन्न किए, शिवाजी महाराज और हरिहर और बुक्का राय को कौन भूल सकता है? स्वयं महर्षि दयानंद को देखिए एक सन्यासी विचरण करता हुआ संपूर्ण देश में क्रांति का देता है। यह चार तो थे मूर्तिमान देवता अब अमूर्तिमान में आता है वह परमपिता परमात्मा जिसने वेद का ज्ञान हमे दिया, ऋषियों ने जिसका साक्षात्कार किया, वह परमात्मा तो असीम आनन्द प्रदान करने वाला है, उसकी महिमा कहां तक लिखी जाए, सच तो यह है कि एक मात्र यही देवता है जिसकी पूजा, उपासना करनी चाहिए अन्य की नहीं।

अब एक अन्य नाम जो हमने चेतन देवता में जोड़ा है वह है वसु, रुद्र, आदित्य, संज्ञक ब्रह्मचारी, इनका विस्तार से वर्णन छांदोग्य उपनिषद में है विस्तार भय से पूरा पाठ नहीं उद्धृत करते हैं। [छांदोग्य उपनिषद 3/6/1] से आगे के पाठ से ज्ञात होता है कि जो 24 वर्ष का ब्रह्मचर्य कर वेद वेदांगो का अध्ययन करे वही वसु संज्ञक ब्रह्मचारी कहलाता है। ऐसे ही रुद्र, आदित्य, मरुत, देवता है। यह जो देवता है यह मनुष्य ही हैं वेदाध्ययन से देवता हो गए है। ऐसे ही राष्ट्र अश्विन देवता यातायात का कर्मचारी होता है। राष्ट्र में इंद्र देवता राजा होता है। ऋभू देवता अभियंता (engineer) है। इसी प्रकार अनेक अनेक देवता जिनका नाम आप पुराणों में सुनते है वह राष्ट्र पक्ष में राष्ट्र के अधिकारी है जैसे राजा आदि कार्य करने वाले। जैसे प्रजापति राजा का मुख्य मंत्री है। सविता देवता legislature है। ब्रह्मणस्पति राष्ट्र का मुख्य पुरोहित और सलाहकार है। रुद्र सेनापति है। मरुत अनेक प्रकार की सेनाएं एवं आम जन है।

विचारते जाइए, वेदों का ज्ञान अति गूढ़ और समुद्र समान विशाल है। एक महर्षि दयानंद ने वेद रूपी सागर से ना जाने कितनी महत्वपूर्ण चीजें खोज निकाली। विचारिए। अब जड़ और चेतन देवता से संबंधित जो आक्षेप है उन सबके उत्तर आगे देते हैं।

प्रश्न— स्वामी दयानंद ने मनुष्यों को ही देवता बता दिया है।

उत्तर— क्यों न बताएं? शतपथ ब्राह्मण में ही स्पष्ट लिखा है और स्वामी जी ने प्रमाण भी दिया है कि:- **'विद्वांसो हि देवाः'** [शतपथ ब्राह्मण] अर्थात— विद्वान ही देवता कहलाते हैं। शतपथ ब्राह्मण के पहले पृष्ठ में ही लिखा है सत्य व्रत का पालन करने वाले देव होते है और न पालन करने वाले मनुष्य।

प्रश्न— नहीं, देवता तो जिन्हें आप जड़ कहते है उनके अधिष्ठाता देवता चेतन होते है। इनके अनेक लोक है, स्वर्ग आदि में ये रहते हैं, पृथ्वी पर यज्ञ में आते होंगे, इनको ही आहुति दी जाती है, यह अलौकिक हैं, इंद्र, मित्र, वरुण, विष्णु, शिव, आदि बहुत से देवता हैं जो पुरुषविध विग्रहवान हैं। जैसे हमारे हाथ पैर हैं वैसे ही इनके भी। इन्हीं को यज्ञ में आहुति दी जाती है। यह कभी आकाश कभी पाताल में विचरते हैं।

उत्तर— तो क्या आप शतपथ के दिए प्रमाणों को नहीं मानते? क्या याज्ञवल्क्य महर्षि ने गलत लिखा है? नहीं, अपितु आप की बुद्धि पुराणों के द्वारा हर ली गई है। प्रथम शतपथ

के अकाट्य प्रमाणों का आपके पास कोई उत्तर नहीं है। अब हम देवताओं के विषय में महर्षि जैमिनि, महर्षि यास्क, शबर स्वामी, भाट्टदीपिका का रचना कार खंडदेव, आदि के मन्तव्यों को दिखाते है जिससे इस ध्वांत का सदैव के लिए निवारण हो जाए।

महाभारत काल के थोड़ा पहले ही कुछ मूर्खो ने जिनको वेदों का तात्पर्य समझ न आया उनका एक मत चला यह लोग देवताओं को पुरुषविध विग्रहवान मानते थे। संभवतः पशुओं की बलि भी देते थे। इसका एक उदाहरण कौत्स नामक एक याज्ञिक। जो मंत्रों को अनर्थक मानता था। तब वेद के सिद्धांतों का लोप होते देख। वैदिक धर्म की रक्षार्थ, शास्त्रों का सही तात्पर्य समझाने के लिए महर्षि जैमिनि ने मीमांसा दर्शन रचा और महर्षि यास्क ने वेदों की सार्थकता, वैज्ञानिकता बचाने के लिए निरुक्त। दोनों ने इस नवीन मत का खंडन किया।

यज्ञों का उद्देश्य, क्रियाओं का तात्पर्य, मन्त्रों का अर्थ इत्यादि को शास्त्रीय दृष्टिकोण से जाने विना केवल यज्ञों को करनेवालों को स्कन्दस्वामी एवं मीमांसक आदि शुद्धयाज्ञिक कहते हैं। यह वो नवीन संप्रदाय था। इसके उलट प्राचीनो को विचारशील अथवा मीमांसक कहते थे जैसे याज्ञवल्क्य, जैमिनि, ऐतरेय, आदि महर्षि। कौत्स जैसों का खंडन निरुक्त एवं मीमांसा दर्शन दोनों में किया गया है।

मीमांसा दर्शन के अध्याय [9 पाद 1 सूत्र 6 से 10] तक चतुर्थ अधिकरण चला है जिसका नाम है 'धर्माणां देवताप्रयुक्तत्वाभावाधिकरणम्'। यहां विस्तार से देवताओं के पुरुषविध विग्रहवान होने का खंडन महर्षि जैमिनि ने किया है। हम आगे प्रथम शबर भाष्य का सरल, सुगम, सार रूप आप लोगों के सामने उपस्थित करते हैं।

पूर्वपक्ष— देवता ही फल का कारण है, ऐसा स्मृति, उपचार (लोक व्यवहार), अन्यार्थ दर्शन (अन्य शास्त्रों के वचन) से अभिप्रेत है जैसे पशुपति की आराधना से पुत्र की प्राप्ति हुई इत्यादि।

सिद्धांती— याग ही फल का देने वाला है देवता नहीं ऐसा शब्दप्रमाण से जाना जाता है। दर्शपूर्णमास का करणरूप से निर्देश है— **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** (दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे)। ऐसे शब्द प्रमाण से स्पष्ट है याग ही फल का देने वाला है देवता नहीं। यहां यजति शब्द का अर्थ द्रव्य, देवता, क्रिया है। किंतु देवता गौण रूप से कथित है मुख्य नहीं।

इसमें कारण— द्रव्य और देवता पहले से ही विद्यमान है और यजति शब्द से जो भविष्य में होने वाला है वही स्वर्ग दे सकता है अर्थात क्रिया, न की देवता। इससे देवता फल में प्रयोजिका (producer) नहीं है।

पूर्वपक्ष— देवता के लिए ही संप्रदान (जिसके उद्देश्य के लिए क्रिया की जाती है) अभिप्रेत होता है शब्द प्रमाण से।

सिद्धांती— हम देवता की सम्प्रदांता को खंडित नहीं करते की उसके लिए कुछ दिया ही नहीं जाता है (हवि आदि)। तद्धित (किसी मूल शब्द से सम्बद्ध होकर जो नया शब्द बने, वह तद्धित प्रक्रिया से बना कहलाता है।) शब्द अथवा चतुर्थी से कही गई कोई चीज वाक्य की अपेक्षा अधिक बलवान होती है। देवतार्थ अर्थात यहां देवता कौन है को बताने के लिए यह ठीक है किंतु यजति शब्द के अर्थ का फल से ही संयोग है वो वाक्य से पता चल गया। (जैसे पूर्व में कहा गया है दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे) यद्यपि याग देवता को हवि देने के लिए है और देवता से फल की प्राप्ति नहीं होती ऐसा निषेध नहीं है तथापि फल ही पुरुष का प्रयोजन है। यज्ञ में हमारी प्रवृत्ति प्रयोजन के ही कारण से है देवता के कारण से नहीं।

पूर्वपक्ष— यज का अर्थ देवपूजा है अर्थात देवता इसीलिए देवता ही फल का producer है। सिद्धांती देवता की प्रधानता वाली देव पूजा लोक में देखी जाती है (मूर्ति पूजा आदि)। यज्ञ लोक व्यवहार के समान थोड़ी है। यहां (यज्ञ में) जिसकी पूजा की जा रही है उसकी पूजा की प्रधानता है न कि देवता की (जिस देवता की पूजा हो रही वह है (यज्ञ क्रिया) वही प्रयोजक है इसीलिए यज्ञ कर्म ही फल का producer है देवता नहीं।

यहां सिद्धांती एक विशेष बात कहता है कि आपके (पूर्वपक्ष) को मानने पर तो देवताओं को पुरुषविध विग्रहवान (मनुष्य जैसा शरीर वाला, साकार) और भोजन करने वाला मानना पड़ेगा (जो कि वैदिक सिद्धांत के विपरीत है) हमारे में ऐसा नहीं है क्योंकि हमारा देवता विग्रहवान ही नहीं है तो उसके लिए दान और भोजन संभव ही नहीं।

पूर्वपक्ष— स्मृति, उपचार (लोक व्यवहार), अन्यार्थ दर्शन (अन्य शास्त्रों के वचन) से प्रमाणित है कि देवता खाती भी है और पुरुषविध विग्रहवान भी है (साकार भी है)।

सिद्धांती— स्मृति का आधार मंत्र और अर्थवाद है। और मंत्रार्थ एवं अर्थवाद देवता के शरीर धारी होने में और उसके खाने के पक्ष में नहीं है।

पूर्वपक्षी— अच्छा तब तो यही कहना पड़ेगा कि स्मृति का मूल श्रुति और अर्थवाद नहीं है क्योंकि स्मृतियों में देवता को शरीर धारी ही बोला गया है।

सिद्धांती— जो लोग आपके जैसे बस ऊपर ऊपर से शास्त्रों को देखते है अर्थात मूर्खता से बिना गंभीर विचार किए उनके मत में आपका कथन सत्य है किंतु जो लोग मंत्र और अर्थवाद को सूक्ष्मता से देखते है उनके मत में स्मृतियों को श्रुति और अर्थवाद का मूल न मानना खंडित हो जाएगा अर्थात जो गंभीरता से विचारेगा सो उसे पता चल जाएगा कि श्रुति और अर्थवाद ही स्मृति के मूल है। एक और बात उपचार भी स्मृति का मूल है। (यहां वैदिक धर्म पर सवाल उठाने वाले नास्तिकों और पौराणिको को ध्यान देना चाहिए कि कैसे अभी मीमांसा शास्त्र उनके फर्जी तर्कवाद को संपूर्णतः नष्ट करने वाले है। यह नाश शबर स्वामी ने ही कर दिया। विरोधी आगे इस सबको ध्यान से पढ़े। इससे यह भी सिद्ध है कि स्मृति श्रुति के ही पीछे चलेगी किंतु मूर्ख पौराणिक, नास्तिक, स्मृति में पशु बलि देख कर श्रुति में उसके होने का प्रतिपादन करते है ऐसे ही लोगों का जो गलत अर्थ करते है उनका खंडन मीमांसा करती है।)

पूर्वपक्षी— अन्यार्थ दर्शन अर्थात अन्य शास्त्रों में देखो देवता को विग्रहवती कहने वाले वचन— **'जुगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं'**। [ऋग्वेद 10/47/1] अर्थात— हे इंद्र हम तेरे दाहिने हाथ को ग्रहण करते है पकड़ते हैं। पुरुष शरीर धारी का ही दाहिना और बायां हाथ होता है।

सिद्धांती— इसका अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ यह है जो उसका दाहिना हाथ है हमने उसको पकड़ा है अर्थात जो उसके दाहिने हाथ के समान है बलवान है उसको हम पकड़ते है।

(अर्थात अगर वाक्य का अर्थ यह होता कि इंद्र का दाहिना हाथ हम पकड़ते है तो उसका दाहिना हाथ सिद्ध हो जाता। लेकिन वाक्य का अर्थ है जो उसका दाहिना हाथ है उसको हम पकड़ते है। मतलब उसका हाथ कोई चम्मच भी हो सकता है यज्ञ का, कोई विशेष घास, आदि तो उसको पकड़ कर हम कहेंगे हे इंद्र जो यह तेरा हाथ है हमने उसको पकड़ा है।

विशेष ध्यान देने योग्य शब्द हैं "जो यह" अर्थात जिसको तेरा हाथ बोला जाता है हम उसको पकड़ते है अब उसका हाथ हम कुछ भी हो सकता है।) इसीलिए इस वाक्य से इंद्र के हाथ की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

पूर्वपक्षी— किंतु यदि हाथ ही न हो तो यह वाक्य ही अनर्थक है। इसीलिए तो हम उसका हाथ स्वीकार करते हैं ताकि मंत्र की अनर्थकता न प्रतीत हो।

सिद्धांती— आपकी बात फिर भी सिद्ध नहीं हुई। चलो मान लिया उसका हाथ है तब भी यह प्रत्यक्ष नहीं है कि हम उसका हाथ पकड़ते हैं। इसीलिए उस वाक्य का यह अर्थ ही नहीं है। अब या तो बोलो यह वाक्य असंबद्ध प्रलाप है अथवा कल्पना से मात्र स्तुति की गई है ऐसा मानो। स्तुति हम मानते ही हैं।

(ऐसे ही मूर्ख लोग वेद मंत्रों के गलत अर्थ करके साकार ईश्वर आदि भी सिद्ध करते हैं, कहते हैं देखो वेदों में क्या बच्चों जैसी बातें मीमांसा उनका निस्तारण कर देता है। साथ ही ऐसे लोगों को मूर्ख बोलता है। यहां मीमांसक शबर स्वामी प्रत्यक्ष प्रमाण की महानता स्वीकार करते हुए शरीर वाले देवता का खंडन कर दिया किन्तु यही मीमांसक प्रत्यक्ष होते हुए पशु की हत्या के ऊपर प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण लगाने से मना कर देते है। यह मूर्खता है जैसे पूर्वपक्षी को वेद मंत्र का तात्पर्य नहीं समझ आया वैसे ही शबर स्वामी आदि को पशु याग समझ नहीं आया था कहना पड़ता है। इसमें कुमारिल, स्कंद, दुर्ग आदि भी बराबर के गुनाहगार है।)

पूर्वपक्षी— अरे नहीं, हम नहीं पकड़ते पर इसका अर्थ यह है कि यह उस व्यक्ति का वचन है जिसने इंद्र का हाथ कभी पकड़ा था।

सिद्धांती— यह नहीं कह सकते क्योंकि इससे वेद में इतिहास का दोष आ जाएगा। वेदों में किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास कतई नहीं माना जा सकता। इससे वेद की आदिमत्ता (अर्थात वेद अनादि नहीं है ऐसा) का दोष आएगा। (अर्थात वेद में इतिहास वाला अर्थ किया ही नहीं जा सकता ऐसा नास्तिकों के प्रिय शबर स्वामी कहते है यदि ऐस वाक्य दिख भी रहा है सरस्वती आदि नदी का वर्णन, इत्यादि तो भी ऐसा अर्थ किया जाएगा जिससे इतिहास की प्रतीति हट जाए।)

और ऐसा भी नहीं कह सकते कि "हाथ को पकड़ा था" इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और जो कहो कि हम तो अर्थापत्ति से कल्पित किया जाएगा कि हाथ को ग्रहण करने वाला कोई था सो ऐसा भी नहीं है क्योंकि अयथार्थ का भी उच्चारण मंत्र में होता है।

(जो अर्थ वास्तव में नहीं है फिर भी वैसा कथन वेदों में होता है जैसे साहित्य में नदियां बोलती हैं, पत्थरों ने उत्तर बताया, महात्मा बुद्ध ने अपने अंदर के काम, क्रोध से युद्ध किया और उनके हथियारों को जीत लिया, यीशु ने पहाड़ पर जाकर शैतान की परीक्षा उत्तीर्ण की, भक्तामर स्तोत्र पढ़ते ही बेड़ियां स्वतः खुल गई मुसीबतें हार गई, अलिफ लैला की तिलस्मी दुनिया में पेड़ हमला करने लगे, इत्यादि। इससे वेद ईश्वर द्वारा अत्यतुम काव्य है यह भी सिद्ध हो गया। ईश्वर ने अनेक अलंकारों से हमें कितना कितना ज्ञान का सुख दिया। विचारय।)

पूर्वपक्ष— देखो साकार शरीर वाले इंद्र को संबोधन (call, address) किया गया है।

सिद्धांती— संबोधन के लिए अनुवचन होता है। (अर्थात पहले किसी को पुकारते हैं फिर वह हमारी और देखता है अथवा जान जाता है कि मुझे कोई पुकार रहा है। फिर उसके बाद अनुवचन अर्थात हमने उस व्यक्ति को किस लिए पुकारा यह बात बोली जाती है जैसे राम ने श्याम को पुकारा और बोला "श्याम" (यह संबोधन है) "कहां जा रहे हो?" (यह अनुवचन है) श्याम का इसे सुन कर सचेत होना की उसे पुकारा गया है यह श्याम का संबुद्ध होना है।) लेकिन इंद्र के संबुद्ध होने का प्रमाण ही नहीं है। जब यहां यही नहीं पता चल पा रहा कि इंद्र संबुद्ध हुआ है भी कि नहीं (क्योंकि दिख तो रहा नहीं है) तब अनुवचन कैसे बोल जा सकता है। जो तुम लोग विग्रहवान मानते हुए संबोधन कर रहे हो सो उसमें अनुवचन व्यर्थ ही हुआ।

पूर्वपक्षी शब्द प्रमाण (ऋग्वेद का मंत्र) जो दिया उस वचन से ही पता चल गया अर्थात हम वचन से ही मान लेंगे कि वह संबुद्ध हो चुका है। सिद्धांती ऐसा कहो सो ठीक नहीं क्योंकि हम पहले बता चुके हैं कि अदृष्ट की कल्पना में हस्त आदि की कल्पना सिद्ध अर्थात नहीं हो सकती। और इंद्र संबुद्ध हुआ इसका निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाण का अभाव है। इसी कारण से यह वचन संबोधन के लिए है ही नहीं अपितु मात्र निर्देशन के लिए है। इसी कारण यह सब वाक्य संबोधन के लिए नहीं मात्र स्तुति के लिए है।

पूर्वपक्ष— फिर चेतन के समान कथन संबोधन क्यों किया जा रहा है?

सिद्धांती— यह देवता नामक साधन है। इससे चेतनवत के समान व्यवहार है इससे संबोधन वाली विभक्ति से कथन किया जाता है। और निर्दिष्ट करते हुए कहा जाता है कि हमने तुम्हारा हाथ पकड़ा है अर्थात हम तेरे आश्रयवाले हैं (तू हमारा सहारा है)। इस मंत्र के द्वारा स्मरण कराया जाता है कि हमारे द्वारा इंद्र कर्म (इंद्र से संबंधित कर्म करना चाहिए।

पूर्वपक्षी— इमे चिंदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मंघवन्काशिरितें॥ [ऋग्वेद 3 / 30/5] अर्थात— हे इन्द्र मघवन् जो अपार द्यावा (घोलोक) पृथिवी है उनको तुम्हारी मुट्ठी पकड़े हुए है अर्थात् तुम्हारी मुट्ठी में हैं। काशि नाम मुट्ठी का है। वह भी पुरुषशरीरधारी की हो सकती है।

सिद्धांती— इंद्र की मुट्ठी स्तुति मात्र है। जो कहो कि असल में उसकी मुट्ठी है तो उसमें कोई प्रमाण नहीं। यहां यह वाक्य का अर्थ नहीं कि ये तेरी महान मुट्ठी है। बल्कि वाक्य का अर्थ है जो तेरी मुष्टि है वह महान है।

ऐसा नहीं है, जिनके पुरुषविध अंग नहीं है उसकी भी पुरुष के अंगों समान (अर्थात उसके शरीर के अंगों को मानते हुए ही स्तुति होती है) जैसे—

एते वंदन्ति शतवंत्सहस्रंवदुभि क्रंन्दन्ति हरिंतेभिंरासभिः। विष्टी ग्रावांणः सुकृतं सुकृत्यया होतुंश्चित्पूर्वे हविरद्यंमाशत॥ [ऋग्वेद 10/94/2] अर्थात— ये (सोम कूटते हुए पत्थर] सैकड़ों और सहस्रों के समान शब्द करते हैं अपने हरे मुखों से [सोम पीनेवालों को] बुलाते हैं। [यह सोम कूटनेवाले पत्थरों का] कर्म है। सुकर्म करनेवाले पाषाण अपने सुकृति से होता [अग्नि अथवा मनुष्य होता] से भी आज हवि भक्षण करो)। **सुखं रथं युयुजे सिन्धुंरश्विनं** [ऋग्वेद 10/75/9] अर्थात सुखकारी रथ को जोता (जोड़ा) सिन्धु (नदी) ने अश्वों से युक्त किया। यहां पर देवता के पुरुष समान अंग होने में यहां अर्थापत्ति नहीं ली जा सकती।

पूर्वपक्षी— तुविग्रीवों वपोदंरः सुबाहुरन्धंसो मदें इन्द्रों वृत्राणिं जिघ्नते॥ [ऋग्वेद 8/17/8] अर्थात— उन्नत ग्रीवावाला, वपा जिस के उदर में है, शोभन बाहूवाला सोम के मद में मस्त इन्द्र वृत्रो को मारता है। ग्रीवा उदर बाहु ये पुरुषशरीरधारी को बतानेवाले होते हैं। इसलिये देवता शरीरधारी है।

सिद्धांती— ग्रीवा के होने में कोई प्रमाण नहीं है। गर्दन की स्तुति से अर्थापत्ति से भी असली शरीर की गर्दन का अर्थ नहीं निकाल सकते। क्योंकि जो अपुरुषविध है उसकी भी स्तुति ऐसे हो जाती है। इन्द्रों वृत्राणिं जिघ्नते यह विधिवाक्य है इससे गर्दन, उदर, से इंद्र को जोड़कर इंद्र के अंग आदि हैं ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यह विधि वाक्य नहीं है। वाक्यभेद का दोष आ जाएगा क्योंकि विधियां आ जाएगी। क्योंकि यह एक ही वाक्य है। गर्दन आदि इसकी स्तुति मात्र है। यहां विधि वाक्य इंद्र वृत्रो को मारता है यह है। बाकी शब्द अनुवचन (अनुवाद) है।

पूर्वपक्षी— चलो अब तुम विधि वाक्य ही लो जहां स्पष्ट लिखा है यदपि वचनं- बाहू ते इन्द्र रोमशौ, अक्षी ते इन्द्र पिंगले, इति। अर्थात— हे इन्द्र तुम्हारे दोनों बाहू बहुत रोमों से युक्त हैं), अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले (=हे इन्द्र तुम्हारी आँखें भूरी हैं)।

सिद्धांती— यह इसका अर्थ नहीं क्योंकि यहां यह नहीं कहा जा रहा कि तेरी बाहू और आँखें हैं बल्कि कहा जा रहा है कि जो तेरी बाहू है वो रोमशत्व (रोम वाली) हैं और जो तेरी आँखें हैं वो पिंगल वर्ण रंग की हैं। रोम वाली और पिंगल वर्ण की विधि की जा रही है ना कि आंख और बाहु होने की। इससे आंख और बाहु की सत्ता नहीं सिद्ध होती।

पूर्वपक्षी— देखो अब साक्षात आंख और कान की सत्ता बोली जा रही है। तुम आंखों वाले और सुननेवाले से कहता हूं।

सिद्धांती— इसका संबंध इससे नहीं की उसकी आँखें है अपितु यह है कि जो तू आंखों वाला है उसके लिए कहता हूँ। (अब उसकी आँखें क्या हैं यह नहीं लिखा है।) जैसे चक्षुष्मत्ता (आंखोवाला) होता है वैसे ही मान कर स्तुति की जा रही है।

पूर्वपक्षी— यह तुमने कैसे जाना?

सिद्धांती— चतुर्थी के निर्देश से। यदि इसको आंखोवाला है वो ये मानोगे इसका अर्थतो वाक्य भेद हो जाएगा। यहां तो कहा गया है कि आंखोवाले के लिए यह अनुवाद में कथन है। यहां चक्षुष्मते कहा गया न कि चक्षुष्मान। इसीलिए आपने जितने अन्यार्थ दर्शन (शास्त्र वचन) उपस्थित किए हैं वो देवता के पुरुषविध विग्रहवान होने को सिद्ध नहीं करते हैं।

(पाठक गण ऐसे ही अनेक मंत्रों और वचनों को सही रूप से समझ सकते हैं जैसे सहस्त्र शीर्षा पुरुष:० इत्यादि मंत्र में यह नहीं कहा जा रहा की उसके हजार सिर है

यह विधि वाक्य नहीं है अपितु कहा जा रहा है जो तेरे (पुरुष के) हजार सिर है अब वो कौन से सिर है यह नहीं बताया गया वो कौन से और कैसे सिर हैं। षडविंश ब्राह्मण का प्रसिद्ध वचन है '**देवता अयतनानी कमपंते, देवता प्रतिमा हंसती, रुदंती, स्फूटनती**', इत्यादि अर्थात

देवता के निवास स्थान (प्रचलित अर्थ में मंदिर आदि) कांप रहें हैं, देवताओं की प्रतिमाएं हंस रही है रो रही है फट रही हैं इत्यादि। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कोई मंदिर है, प्रतिमा है, अपितु इस वाक्य का अर्थ है जो देवता के निवास स्थान है वह कांप रहे है अब उसके निवास स्थान क्या हैं ईंट से बने मंदिर यह कहीं नहीं लिखा। जो देवताओं की प्रतिमा है वो हँस, रो रही है अब उनकी प्रतिमा तो यह सूर्य भी है वायु भी है। इत्यादि विचारो। वो तो इस प्रसंग का उत्तर सायण आदि ने इसे स्वप्न का माना है और यह वचन पृथ्वी नहीं अपितु द्योलोक का वर्णन है फिर भी इसका उत्तर ऐसे भी दे सकते हैं।)

पूर्वपक्षी— भोजन उन के लिए होने से (देवता के लिए)।

सिद्धांती— यह असद् वचन है क्योंकि देवता खाते ही नहीं हैं।

पूर्वपक्षी— स्मृति, उपचार (व्यवहार), अन्यार्थ दर्शन से सिद्ध है कि देवता खाती है। जो कहो यदि देवता खाती है तो हवि क्षीण क्यों नहीं होती सो उसका उत्तर यह है कि देवता अन्न के रस को खाती है मधुमक्खी के समान। देखने में भी आता है कि देवताओं के लिए रखी हवि नीरस हो जाती है। इससे उनका अन्न रस ग्रहण करना सिद्ध है। अन्यार्थदर्शन— **ऽवींन्द्र पिबं च प्रस्थिंतस्य॥** [ऋग्वेद 10/116/7] अर्थात हे इन्द्र खाओ और सामने उपस्थित [सोम] को पियो। अर्थात ग्रहों को पी जाओ।

सिद्धांती— जो यह कहा है कि देवता खाती है, स्मृति, उपचार और अन्यार्थ दर्शन से सो उसका तो प्रतिवाद देवता के अविग्रहवान होने से ही हो गया। मधुमक्खी के समान देवता खाती है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। मधुमक्खी का रस ग्रहण तो प्रत्यक्ष ही है, वैसा देवता में नहीं। इसीलिए देवता नहीं खाती। और जो यह कहा था कि देवताओं की हवि नीरस हो जाती है सो भी दोष नहीं क्योंकि वायु के संयोग से नीरस और ठंडी हो जाती है। (शरीर आदि का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है स्तुति आदि।)

पूर्वपक्षी— देवता अर्थ के स्वामी होते हैं इससे भी वह विग्रहवान है। इसमें भी स्मृति, उपचार और अन्यार्थ दर्शन प्रमाण है। स्मृति— देवता अर्थों पर शासन करती है। व्यवहार— देवग्राम, देवक्षेत्र शब्द व्यवहार में भी यही बताते हैं। अन्यार्थ दर्शन— **इन्द्रो॒ दि॒व इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्या इन्द्रो॑ अ॒पामिन्द्र॒ इत्पर्व॑तानाम्। इन्द्रो॑ वृ॒धामिन्द्र॒ इन्मेधि॑राणा॒मिन्द्र॒ क्षेमे॒ योगे॒ हव्य॒ इन्द्रः॥** [ऋग्वेद 10/89/10] अर्थात— इन्द्र द्युलोक और इन्द्र पृथिवी लोक का स्वामी है, इन्द्र जलों का और पर्वतों अर्थात मेघों का, इन्द्र बढ़नेवाले भूतों का और इन्द्र यज्ञ करनेहारों का, इन्द्र ही योग=अप्राप्त की प्राप्ति तथा क्षेम=प्राप्त की रक्षा के विषय में आहवनीय हैं।

अ॒भि त्वा॑ शूर नोनु॒मोऽदु॑ग्धाइव धे॒नवः॑। ईशा॑नम॒स्य जग॑तः स्व॒र्दृश॒मीशा॑नमिन्द्र त॒स्थुषः॑॥ [ऋग्वेद 7/32/22]

अर्थात— इन्द्र ही इस चेतन जगत् का स्वामी है, वही सुखदर्शयिता है और वह इन्द्र जड़ जगत् का स्वामी है।

पुनः स्मृतियों में लिखा है कुबेर उसपर प्रसन्न हुआ धन की प्राप्ति हुई, पशुपति उसपर प्रसन्न हो कर मनोकामना पूरी की इत्यादि। **आहुतिभिरेव हुतादो देवान् प्रीणाति तेऽस्मं प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति।** अर्थात— आहुतियों से अग्नि में प्रक्षिप्त हवि को खानेवाले देवों को तृप्त करता है वे उसके लिए प्रीति से अन्न और बल को देते हैं।

सिद्धांती— देवता किसी अर्थ की स्वामिनी नहीं है जब नहीं है तो कुछ देगी कैसे? जो आपने स्मृति, उपचार और अन्यार्थ दर्शन इसमें कहा है सो ऐसा नहीं है। स्मृति का मूल मंत्र और अर्थवाद है जैसे कि पहला बात दिया गया है। उपचार जैसे देवग्राम, देवक्षेत्र इत्यादि मात्र कथन है क्योंकि जो जिस वस्तु को अपनी इच्छा अनुसार प्रयोग कर सकता है वह उसका स्व कहलाता है। (अर्थात तभी उसका स्वामी कहला सकता है जब उस चीज को अपने इच्छा अनुसार प्रयोग कर सकने की उसके पास आजादी हो।)

ग्राम और क्षेत्र को देवता अपने इच्छानुसार प्रयोग नहीं कर सकते इसीलिए इसपर उनका स्वामित्व नहीं है, जो स्वामित्व नहीं तो वो स्वामी ही नहीं। हां, देवताओं के परिचायकों अर्थात पुजारियों की संपन्नता देखी जाती है जबकि देवताओं को लक्षित कर दिया जाने वाले से भी देवताओं का कुछ नहीं बढ़ता अपितु पुजारियों का ही बढ़ता है।

और जो अन्यार्थ दर्शन कहा है सो भी प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं है (अर्थात प्रत्यक्ष तो कोई ऐसा इंद्र देवता नहीं दिखता जो इन सब पृथ्वी, द्यू, आदि का मालिक हो) इसीलिए देवता को पृथ्वी आदि का स्वामी कहने वाले वचन गौण हैं।

पूर्वपक्षी— जो शब्द प्रमाण दिए हैं उसी से पता चल गया कि वो स्वामी हैं और जन सामान्य भी देवता के लिए ही वस्तु आदि देते हैं।

सिद्धांती— ऐसा नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से यही पता चल रहा है कि देवताओं के पुजारियों के लिए ही दिया जाता है। इस प्रत्यक्ष का खंडन संभव नहीं। जो देवता को स्वामी मानते भी हैं वो भी इसे नहीं झुठला सकते कि वो सब देवता के पुजारियों के अभिप्राय से होता है।

देवता वैसा ही करते है जैसे उसके परिचायक को अभिप्रेत रहता है। और वो स्वामी नहीं होता जो अन्य के अभिप्राय के अनुसार वर्ते अर्थात जो अपनी मर्जी का मालिक नहीं है वो स्वामी नहीं।

और यह जो ऋग्वेद का मंत्र दिया [7/32/22] सो भी स्वामित्व सिद्ध नहीं करता है क्योंकि वर्तमान काल का उपयोग है एवं प्रत्यक्ष से विरोध है इसीलिए मात्र स्तुतिवाद से कथन है। देवता फल से संबद्ध भी नहीं करती इसीलिए उसकी परिचर्या (सेवा, service) भी व्यर्थ है। और जो यह कहा था कि स्मृति, उपचार और अन्यार्थ दर्शन से देवता प्रसन्न होते हैं और फल देते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि स्मृति उपचार के बारे में बता चुके हैं।

और रही बात अन्यार्थ दर्शन की "**उसके लिए प्रीति से अन्न और बल को देते हैं।**" यह ठीक नहीं क्योंकि यहां अन्य विधि की गई है **'दक्षिणतः संपरिहर्तव्या इत्याह'** [मै० संहिता 1/4/6]=अन्वाहार्य को दक्षिणा से देवे ऐसा कहा तथा **'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति'** [तैत्तिरीय संहिता 2/5/4]=तृप्त हुआ इन्द्र इस यजमान को प्रजा और पशुधों से तृप्त करता है। यहां ऐन्द्र हवि का विधान है। इसलिये देवता फल की प्रयोजिका नहीं है।

पूर्वपक्षी— जैसे अतिथि भोजन का प्रयोजक होता है भोजन का अतिथि के लिए होने से। वैसे ही इंद्र आदि देवता सब कर्मों के प्रयोजक है।

सिद्धांती— अतिथि प्रधान होता है क्योंकि हम उसे उसकी तृप्ति के लिए खिलाते हैं इसीलिए उसकी तृप्ति भी प्रधान है। किंतु देवता के विषय में ऐसा नहीं है क्योंकि देवता की प्रीति का अभाव है। अतिथि को जो रुचिकर हो वैसे उसक लिए करना चाहिए। लेकिन जो यज्ञकर्म है उसमें देवता की प्रीति का विधान नहीं है इसीलिए अतिथि का उदाहरण नहीं दिया जा सकता।

यहां पर आकर यह अधिकरण समाप्त हो जाता है। यह शबर भाष्य का हिंदी एवं उसका एक सार रूप से यहां दिया गया है इसको और विस्तार से भाष्य में देखें। मीमांसा का एक प्राचीन भाष्य कार हुआ है खंडदेव वो अपने ग्रन्थ भाट्टदीपिका के इस अधिकरण के अंत में लिखता है— **'अतः कथमपि न विग्रहादिस्वीकारः। किन्तु शब्दमात्रं देवता । श्रर्थस्तु प्रातिपदिका- नुरोघाच्चेतनोऽचेतनो वा कश्चित् स्वीक्रियते, न तु विग्रहवान्। उपासनादौ तु परं परं ध्यान- मात्रमाहार्यं तस्येति जैमिनिमत निष्कर्षः। मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यति तत्र हरिस्मरणमेव शरणम्'**।

अर्थात्– अत: देवता का किसी प्रकार भी विग्रहादि स्वीकार नहीं है, किन्तु शब्दमात्र देवता है। शब्द का अर्थ प्रातिपदिक के अनुरोध से चेतन वा अचेतन कोई भी स्वीकार किया जाता है, परन्तु विग्रहवान् अर्थ स्वीकार्य नहीं है। उपासनादि में उसका केवल ध्यान मात्र स्वीकार्य है, यह जैमिनि का सिद्धान्त है। ऐसा कहते हुए मेरी वाणी दूषित होती है, अतः उस विषय में हरिस्मरण ही शरण है।

यहां तक स्पष्ट हो गया है कि मीमांसा दर्शन के अनुसार मंत्र अर्थात शब्दात्मक ही देवता होता है। "ऐसा ही स्वामी दयानंद जी ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में भी लिखा है कि यज्ञ में मंत्र और ईश्वर ही देवता होता है"। इसी प्रकार शबर स्वामी ने पुन: मीमांसा भाष्य में शब्दात्मक देवता का मंडन किया है। जब पूर्वपक्षी कहता है कि आप तो जैसे बोल रहे है उससे तो फिर शब्द ही देवता हो जाएगा इसपर शबर लिखते है— **उच्यते। नन्वेवं शब्द एव देवता प्राप्नोति अत्रोच्यते। नैतदुस्माभिः परिहर्तव्यम्। न हीदमुच्यमानमस्मत्पक्षं बाधते सुतरां शुच्यादीनामप्रसङ्ग इति।** [मीमांसा दर्शन 10/4/23] अर्थात— ऐसे तो फिर शब्द ही देवता हो गया (क्योंकि आप विग्रहवान का खंडन कर रहे हो)।

सिद्धांती— हमको इसका उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं है हम इसका परिहार क्यों करें? (हम तो यही मानते है) क्योंकि ऐसा कहते हुए यह हमारे सिद्धांत को बाधित करता ही नहीं है। अच्छे प्रकार से प्रसंग सिद्ध हुआ।

यहां एक और बात विशेष है यहां पर इतिहास पुराण के देवता ऐसा बोलकर उनका खंडन किया गया है। अर्थात इतिहास पुराण में जो देवता है, जिनकी वकालत स्कंद और दुर्ग अपने निरुक्त भाष्य में करते है उसका ही खंडन कर दिया गया है।
मीमांसा दर्शन के संकर्ष कांड अर्थात अध्याय 13 से 16 तक में भी ऐसा ही वर्णन है। भाष्य कार देवस्वामी कहते हैं—

देवतासम्बन्धिनः शब्दस्यैव ध्येयत्वं श्रुतिसमवायात्। आग्नेयम्, ऐन्द्रम् इत्यादौ श्रुत्यैव देवताप्रातिपदिकस्यैव तद्धितेन ध्येयत्वम्, नार्थे। मुख्यत्वाच्च। मुख्यश्च प्राथम्याच्छब्दो जघन्यश्चार्थः पश्चाद्भावात्। किञ्च शब्दे कर्मस्याभावाद् अर्थे कार्य विज्ञायते। सम्भवति चेह शब्दे ध्यानम्। तस्मात् शब्दविषयमेवेदं ध्यानमिति। [मीमांसा 16/3/9 अथवा संकर्ष कांड 4/3/9]

अर्थात— यहाँ ध्यान देवता का हो या शब्द का ? रूपवान् देवताओं का होना चाहिए। क्योंकि लोक में देखा जाता है 'कान्तां ध्यायन्नास्ते देवदत्तः' कहने पर रूपवती कान्ता का ही ध्यान होता है, न कि अरूपवती (अविग्रहवती) का। वैसे ही यहाँ भी विग्रहवान् देवताओं का ध्यान होना चाहिए। इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए आगे लिखते हैं कि "देवता सम्बन्धी शब्द का ही ध्यान करना चाहिए, श्रुतिवाक्य से सम्बन्धित होने से। 'आग्नेयम्, ऐन्द्रम्' आदि तद्धितान्तों में तद्धित का अर्थ देवतारूपी प्रातिपदिक (अग्नि, इन्द्र आदि शब्द) काही ग्रहण होता है, न कि उनके अर्थोंका और शब्द का बोध पहले होने से मुख्य है तथा अर्थ का बोध पश्चात् होने से गौण (निर्बल) है। अतः यहाँ शब्द का ही ध्यान विहित है, न कि तच्छब्दगम्य अर्थ (देवता के रूप) का। इसलिए शब्द मात्र ही देवता है। यहां पर भी देवस्वामी ने इतिहास पुराण के देवताओं का नाम लिख कर खंडन किया है विस्तार से भाष्य में देखो।

अब निरुक्त सप्तम अध्याय में देवता के विग्रहवान आदि होने की चर्चा है उसे भी पढ़े यहां मात्र हिंदी अनुवाद दिया जाता है। निरुक्त का सिद्धांत है पूजनीय वह एक परमेश्वर ही है अतः ये पौराणिक देवता आदि मान ही नहीं सकते थे।

अब देवताओं के आकार का विचार किया जाता है। एक मत है कि देवता पुरुष के समान (=शरीरधारी चेतन) है। चेतनावाले के समान ही वेद में देवताओं की स्तुति होती है और उसी प्रकार उनके पृथक-पृथक् नाम हैं। देवता पुरुष के समान अंगों से स्तुति किए जाते हैं।

-हे इन्द्र तुम महान् की महती=लम्बी यद्वा शत्रुओं की नाशक बाहुएं हैं [ऋ ०६। ४७। ८] हे मघवन्! [तुम इन अपार द्यावापृथिवी को] पकड़े हुए हो, तुम्हारीः मुट्ठी महान् हैं [ऋ० ३। ३०। ५]

पुरुषसदृश द्रव्यों के संयोगों से भी देवता की स्तुति होती है— हे इन्द्र दो घोड़ों से [हमारे यज्ञ में] आओ [ऋ० २११८। ४], हे इन्द्र तुम्हारे घर में कल्याणी सुरूपा भार्या और रमणीय पदार्थ हैं [ऋ० ३। ५३। ६]।

पुरुष समान कर्मों से भी स्तुति की जाती है— हे इन्द्र उपस्थित सोम को खाओ और पीलो। [ऋ०१०। ११६।७], सब ओर से सुनने वाले कानों से युक्त इन्द्र, हमारे बुलावे को सुनो [ऋ० १। १०। ९]

दूसरा मत है— देवता पुरुषविध चेतन वा शरीरधारी नहीं है। अग्नि, इन्द्र, वायु, आदित्य का जो स्वरूप देखा जाता है वह पुरुषविध नहीं है। जो कहा— चेतनावाले के समान स्तुतियां होती हैं, अचेतन भी इस प्रकार स्तुत किये जाते हैं। जैसे अक्ष से लेकर औषधि पर्यन्त देवता [निघण्टु ५/२]। जो कहा पुरुषविध अङ्गों से युक्त स्तुति होती है, अचेतनों में भी पुरुषविध अंगों से यह होती है— शब्द करते हैं हरे मुखों से [ऋ०१०। ९४। २] यह [सोम कूटनेवाले] पत्थरों की स्तुति हैं।

सिन्धु ने घोड़ों से युक्त सुखकारी रथ को जोड़ा [ऋ०१०। ७५। ९] यह नदी की स्तुति है।

जो यह कहा कि पुरुषविध कर्मों से स्तुति होती है, वह भी उसी प्रकार है— आज होता से पूर्व हवि को खाओ [ऋ० १०। ९४। २] यह सोम कूटनेवाले पत्थरों की स्तुति है।

अथवा दोनों प्रकार के (पुरुषविध और अपुरुषविध) हैं। अथवा पुरुष विधों के ही कर्मरूप होवें। जैसे यजमान का यज्ञ कर्म। यह कथाओं का भी सिद्धान्त है। [निरुक्त अध्याय 7 खंड 6 – 7]

यहां देखिए निरुक्त कार यास्क कहते हैं तीन मत हैं देवता विषयक

1) पुरुषविध चेतन शरीरधारी, फिर इसका खंडन करते हैं।
2) अविग्रहवान, अपुरुषविध हैं, इसका मंडन करते हुए मीमांसा में दिए तर्क जैसे ही सिद्धि करते हैं।
3) अंत में दोनों प्रकार के मानते है पुरुषविध और अपुरुषविध।
4) दोनों कैसे हैं यदि एक साथ माने तो कहते हैं पुरुषविध अर्थात यजमान और उसका कर्म जो यज्ञ है वह अपुरुषविध देवता।

यहां लेश मात्र पौराणिक देवता का स्थान नहीं कहा गया है। फिर भी यास्क के विरुद्ध जा कर दुर्ग और स्कंद ने अपने समाज में प्रचलित पौराणिक देवताओं के ऊपर तर्क न लगाओ ऐसा बोलकर उनकी सिद्धि करने का असफल प्रयास करते हैं। किंतु उन्हें भी पता था ऐसा किसी शास्त्र का सिद्धांत नहीं है लेकिन बिचारे डरते भी थे समाज से जैसे खंडदेव डरता है। स्वयं विचार कीजिए, यदि पौराणिक देवता यास्क को अभिप्रेत होते तो वो स्पष्ट लिख देते किंतु ऐसा न करते हुए पुरुषविध चेतन शरीरधारी देवताओं का ही खंडन कर देते हैं। यहां एक और बात मीमांसा दर्शन और निरुक्त दोनों में शरीरधारी देवताओं के पूर्वपक्ष में ऋग्वेद के मंत्र लिए गए हैं। दोनों जगह उन्हीं मंत्रों का उपयोग है, उत्तर भी एक जैसा ही है कि जो अचेतन, अविग्रहवान हैं उनकी भी चेतनवत, पुरुष अंगों के समान ही स्तुति होती है। इसका अर्थ है मीमांसा को भी वही देवता अभिप्रेत है जो निरुक्त को। अर्थात शब्दात्मक देवता। फिर स्कंद और दुर्ग क्योंकर जबरदस्ती पौराणिक देवताओं को सिद्ध करने में लगे हैं? जबकि स्वयं भी वेदों में इंद्र आदि का इतिहास आदि नहीं मानते। यह हमारीसमझ में नहीं आता। निरुक्त के इस स्थल की व्याख्या भास्कर प्रकाश समुल्लास 11 में तुलसीराम स्वामी जी ने भी की है कृपया उसे भी एक बार अवश्य देखें।

अब नवीन मीमांसको से भी एक प्रश्न पूछते है जब आपके यहां देवता मंत्र ही है कोई चेतन, पुरुषविध, विग्रहवान नहीं फिर स्वर्ग भी नहीं हुआ, जब स्वर्ग भी नहीं हुआ

तो पशु की बलि किसके लिए? मंत्र ही देवता है फिर पशु की बलि देकर वह बेचारा क्या खाक देवताओं के शरण में जा पाएगा?

अब जरा देखिए स्वर्ग कहां पर है इसका भी विचार लगे हाथों कर लेते हैं—

प्रथम ही बोला गया है कि विद्वान को ही देवता कहते हैं इसीलिए देवलोक का संबंध विद्या से है जैसे कि [शतपथ 14/4/3/24] में लिखा है **'विद्यया देवलोकः'** अर्थात देवलोक को विद्या से जीते। अब जीवन में सर्वाधिक विद्या दान वानप्रस्थ आश्रम में ही हो सकता है। अतः वानप्रस्थ आश्रम ही देवलोक है। और देखिए [शतपथ 13/2/8/5] **'स्वर्गो लोको यत्र पशु संज्ञपयन्ति'** अर्थात जहां पशु का संज्ञपन करते हैं वहीं स्वर्गलोक है। अब पौराणिक, नास्तिक कहेंगे कि देखो इस वाक्य से पशुबली सिद्ध हो गई। किंतु बेचारे यह भूल जाते हैं कि फिर तो आपके भी मत में स्वर्ग इसी धरती पर ही है क्योंकि पशु का संज्ञपन धरती पर ही होता है। हमारे मत में संज्ञपन का अर्थ कुछ और है फिर भी पौराणिक अर्थ लेने से भी स्वर्ग तो यहीं सिद्ध हुआ।

(यहाँ एक और बात अति महत्वपूर्ण है मीमांसा दर्शन के अध्याय 6 पाद 1 प्रथम अधिकरण जिसका नाम स्वर्गकामाधिकरणम् है वहां स्पष्ट शबर स्वामी ने भी स्वर्ग का कोई अलग लोक विशेष होने का खंडन किया है। वहां एक दो प्रश्न उत्तर यहां दिखलाते हैं— लोक, वेद और कथाओं से जाना जाता है कि स्वर्ग कोई लोक विशेष है कह पर भूख, प्यास, नहीं इत्यादि।

इसका उत्तर देते हुए कहते है ऐसा नहीं है। इस प्रकार के देश के साथ पुरुषों का संबंध नहीं होने से लोक का कथन अप्रमाण है। स्वर्ग के कहने वाला वेद वचन भी विधिपरक नहीं है। यदि वहां (स्वर्ग में) बिना मरे नहीं जा सकते और वहां से बिना जन्म लिए नहीं आते तो इस प्रकार का वह स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं। इसीलिए इस प्रकार का कोई देश नहीं। प्रीति ही स्वर्ग है। अर्थात नवीन मीमांसको के अनुसार भी स्वर्ग प्रीति ही है कोई देश विशेष नहीं। अब तो शबर स्वामी ने भी कह दिया कि स्वर्ग आदि कोई देश विशेष नहीं फिर पशु को मार कर किस स्वर्ग में भेजोगे पौराणिकों?)

और देखिए आपके उवट और महीधर जी क्या लिखते है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ २५॥

उ० यत्र ब्रह्म। यत्र ब्रह्म च मूर्तिमत् क्षत्रं च। सम्यञ्च समीची इति प्राप्ते लिङ्गव्यत्ययः। चरतः सह अवियोगेन तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं प्रज्ञानं वा प्राप्ता भवन्तीत्यतः तल्लोकगमनं प्रार्थ्यते। यत्र देवाः सहाग्निना चरन्ति॥ २५॥

म० पुण्यं पवित्रं लोकं प्रज्ञेषं जानीयाम्। लोकमप्राप्तानां तल्लोकज्ञानं न भवतीति स्वर्लोकगमनं प्रार्थ्यते तं कम्। यत्र लोके ब्रह्म ब्राह्मणजातिः क्षत्रं क्षत्रियजातिश्च सहावियोगेन: चरतः तिष्ठत इत्यर्थः। कीदृशे ब्रह्मक्षत्रे। सम्यञ्चौ लिङ्गव्यत्ययः। समीची सम्यक् अञ्चतस्ते। तत्र चाग्निना सह देवाः संचरन्ति। सदा च विप्राः क्षत्रियाश्च यं गच्छन्ति तं देवलोकं प्राप्नुयामित्यर्थः॥ २५॥

अर्थात— जिस ब्रह्मलोक में ब्राह्मण और क्षत्रिय साथ-साथ चलने वाले होकर रह रहे हैं और जहाँ अग्नि के साथ-साथ अन्य देव भी विद्यमान हैं। मैं उसी पुण्यलभ्य ब्रह्मलोक को जानूँ=प्राप्त होऊँ॥ २५॥ अब बताइए ब्राह्मण और क्षत्रिय कहां रहते हैं? इसी धरती पर। निरुक्त में अग्नि को पृथ्वी स्थानीय लिखा है अर्थात पृथ्वी पर रहने वाली। वेद मंत्र स्पष्ट कह रहा है कि स्वर्ग इसी धरती पर है। पृथ्वी भी 8 वसुओं में ही आती है अतः यह भी देवलोक ही है। इस मंत्र पर सायण को भी यही लिखना पड़ा है दृष्टव्य [यजुर्वेद कण्व संहिता अध्याय 22 मंत्र 13]

समस्त देवता इस शरीर में सिर में रहते हैं अतः यह शिर ही देवलोक है। ऐसा कई उपनिषदों में प्रसिद्ध है। शरीर की इंद्रियों को देवता कहते हैं कभी यह भोगों में फंसी रहती हैं कभी ईश्वर का ध्यान करती हैं यही सच्चा देवासुर संग्राम है। शंकराचार्य कहते हैं—

देवासुराः – देवता और असुर- गण। 'देव' शब्द द्योतनार्थक 'दिव' धातुसे सिद्ध हुआ है। इसका अभिप्राय शास्त्रालोकित इन्द्रियवृत्तियाँ हैं तथा उसके विपरीत, जो अपने ही असुओं (प्राणों) में यानी विविध विषयोंमें जानेवाली प्राणनक्रियाओंमें (जीवनोपयोगी प्राणव्यापारोंमें) ही रमण करनेवाली होने के कारण स्वभावसे ही तमोमयी इन्द्रियवृत्तियाँ हैं, वे ही 'असुर' कहलाती हैं। 'ह' और 'वै' ये पूर्ववृत्तान्तको सूचित करनेवाले निपात हैं

'यत्र' जिस निमित्तसे अर्थात् एक-दूसरेके विषयों के अपहरणरूप जिस किसी निमित्तसे संयत हुए। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'यत्' धातुका अर्थ संग्राम होने के कारण इसका अभिप्राय ' उन्होंने संग्राम किया' ऐसा समझना चाहिए। शास्त्रीय प्रकाशवृत्तिका पराभवकरनेके लिये प्रवृत्त हुई स्वभावसे ही तमोरूपा इन्द्रियवृत्तियाँ असुर हैं। तथा उनके विपरीत शास्त्रार्थविषयक विवेकज्योतिःस्वरूप देवगण स्वाभाविक तमोरूप असुरोंका पराभव करनेके लिये प्रवृत्त हैं। इस प्रकार परस्परकी वृत्तियोंके अभिभवउद्भवरूप संग्रामके समान यह देवासुर संग्राम अनादिकाल से सम्पूर्ण प्राणियों में प्रत्येक देहमें होता आ रहा है ऐसा इसका अभिप्राय है। यहाँ श्रुति धर्माधर्म की उत्पत्तिके विवेकका बोध करानेके लिये प्राणोंकी विशुद्धिके विज्ञानका विधान करते हुए आख्यायिका रूप से उसी का वर्णन कर रही है। [छांदोग्य उपनिषद शंकर भाष्य 1/2/1]

क्या अब भी कहेंगे कि देवताओं का स्वर्ग कहीं दिव्य लोको में है? अनेक देवताओं को वेदों में, ब्राह्मणों में मनुष्य कहा गया है उसमें से दो एक उदाहरण देते हैं:- कण्व शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राष्ट्र की आम प्रजा अर्थात common people ही मरुत देवता हैं। (कण्व शतपथ ब्राह्मण 5/6/4/7)

और लीजिए, अब ऐसा प्रमाण दिया जाएगा कि देवता, असुर, पितर, इत्यादि गण इसी पृथ्वी पर हमारे साथ रहते हैं यह सिद्ध हो जाएगा। शतपथ ब्राह्मण अश्वमेध प्रकरण में एक समय राजा को परिप्लव आख्यान आदि की कथा करनी होती है बड़ी सभाएं लगती हैं रोज नए नए लोग आते हैं। वहां लिखा है कि—

हे अध्वर्यु, हां होता, आज राजा क्या है, आज राजा मनु वैवस्वत है इसकी प्रजा मनुष्य है। गृहस्थ इक्कठे हो जाते हैं। यह प्रथम दिन ऐसे ही 10 दिन तक होता है अब आगे सुनिए राजा क्या बनता है और उसकी प्रजा क्या रहती है। दूसरे दिन, हे होता, हां अध्वर्यु होता कहता है आज राजा यम वैवस्वत है और उसकी प्रजा पितर हैं। वृद्ध जन इक्कठे हो जाते है। तीसरे दिन, राजा वरुण आदित्य है, गंधर्व इसकी प्रजा, जाते हैं। चौथे दिन राजा सोम वैष्णव है, अप्सराएं इसकी प्रजा, सुंदर युवतियां इक्कठा हो जाती हैं। पांचवें दिन, राजा अर्वुद काद्रवेय है, इसकी प्रजा सर्प है, सर्प के विज्ञान को जानने वाले उपस्थित हो जाते हैं। छठे दिन, राजा कुबेर वैश्रवण है, इसकी प्रजा राक्षस है, डाकू, पापी इक्कठे हो जाते हैं। सातवें दिन, राजा असित धान्व राजा है, इसकी प्रजा इक्कठे हो जाते हैं। असुर

है, व्याजखोर आठवें दिन, राजा मत्स्य सामंद है, इसकी प्रजा जल वासी है, मछलीगीर यहां उपस्थित हैं। नौवें दिन, राजा ताक्षार्य वैपश्य है, इसकी प्रजा पक्षी है, पक्षी विद्या विद इक्कठे हो जाते हैं। दसवें दिन, राजा इंद्र है, इसकी प्रजा देवता है, दान न लेने वाले अर्थात निर्लोभ विद्वान उपस्थित हो, उपदेश सुनते है।

पौराणिक, नास्तिक, लोगो का किला ध्वस्त हो चुका है, अब कहने को कुछ और नहीं है। झक मार के देवता, पितर, जैसे आर्य समाज मानता है वैसे ही मानना पड़ेगा। देवता आदि लोग इसी राष्ट्र में रहते है। यह सिद्ध हुआ। पितर जीवित वृद्ध जन है यह भी सिद्ध हुआ।

पूर्वपक्षी— आपने ठीक से सब कुछ समझाया है किंतु एक शंका है जिससे देवताओं को मनुष्य मानने पर दोष उत्पन्न होता है। याज्ञवल्क्य जी ने शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि:- **'देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः'** [शतपथ 7/4/2/40] अर्थात मनुष्य और देवता दो अलग अलग योनियां हैं।

सिद्धांती— महर्षि याज्ञवल्क्य ने एक दम सही लिखा है। देवता और मनुष्य वस्तुत: दोनों ही मानव है परंतु उनकी योनि भिन्न-भिन्न है। पर कैसे? तो उन्हीं से पूछते है जिन्होंने विद्वानों को देवता बताया है। महर्षि याज्ञवल्क्य वेदों के तत्त्ववेत्ता थे इस कारण उन्होंने ऐसा लिखा अब सुनो। मानुष की उत्पत्ति नीचे से होती है अर्थात माता के गर्भ से ऐसी उत्पत्ति सभी मनुष्यों की होती है। किंतु देवता ऊपर से उत्पन्न होते हैं अर्थात मुख से। मुख से? यह कैसे हो सकता है? आप तो आर्य समाजी है फिर ऐसी बात कैसे कह सकते हैं?

अरे जरा ध्यान से शतपथ का अध्ययन कीजिए जिसमें देवताओं का उद्भव द्युलोक के प्रकाश से होना बतलाया है। स्वयं विचारीये, मनुष्य की उत्पत्ति काम भाव से गर्भ से होती है किंतु देवताओं की उत्पत्ति का स्थान तो ऊपर है, पवित्र है। जरा गुरुकुल जाते हुए बालक बालिकाओं को देखो, अभी तक वो मनुष्य हैं क्योंकि उनके पास विद्या का अभाव है, शास्त्रों को कुछ नहीं जानते है। अब गुरुकुल में स्नातक हो वह द्विज कहलाते हैं और वर्ण प्रदान की क्रिया गुरु करता है।

यहां द्विज का अर्थ पुनः जन्म ही तो है। यह जन्म कैसे हुआ? वेद वाणी से जो आचार्य ने अपने मुख से बोली और मनुष्य बालक बालिकाओं ने उसे सुन, विद्यावान हो

वह देवता हो गए। यह है रहस्य इस दूसरी योनि का। इसी कारण से देवता भिन्न योनि है यद्यपि मनुष्य तो सब ही उत्पन्न होते है पर आचार्य ही वेद वाणी के द्वारा उन्हें देवता बना देता है इसीलिए देवता का जन्म गर्भ से नहीं अपितु आचार्य के मुख से निकलती पवित्र वेद वाणी से होता है। आचार्य वेद वाणी से मनुष्यों के मस्तिष्क में देव शक्तियां उत्पन्न कर मनुष्य को देवता बना देता है। पवित्र भावनाओं से ओतप्रोत मन ही देवताओं का निवास स्थान है। यह सब हमने जो लिखा है सो [शतपथ कांड 1, कांड 11, और कांड 7] के आश्रय से लिखा है।

एक अंतिम महत्वपूर्ण बात उपनिषदों, ब्राह्मणों के प्रमाणों के सार रूप से आपको बताते हैं। तीन लोक सबके लिए है पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यो अर्थात ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आश्रम। इसमें से यह वानप्रस्थ आश्रम विद्या का आश्रम होने से द्यूलोक अथवा स्वर्ग कहलाता है। चौथा लोक संन्यास आश्रम है। यही मनुष्य यज्ञ के सवन हैं। ये चार आश्रम ही चार लोक है। जहां भी वेदों में स्वर्ग लोक का वर्णन होगा समझ लीजिए इन्हीं 4 आश्रमों में से किसी एक आश्रम का वर्णन वह है। लेख को समाप्त करने से पहले कुछ एक चीजें और बताने को बच गईं हैं सो अब उसको बताते हैं।

यहाँ एक और बात अति महत्वपूर्ण है मीमांसा दर्शन के अध्याय 6 पाद 1 प्रथम अधिकरण जिसका नाम स्वर्गकामाधिकरणम् है वहां स्पष्ट शबर स्वामी ने भी स्वर्ग का कोई अलग लोक विशेष होने का खंडन किया है। वहां एक दो प्रश्न उत्तर यहां दिखलाते हैं:- लोक, वेद और कथाओं से जाना जाता है कि स्वर्ग कोई लोक विशेष है कह पर भूख, प्यास, नहीं इत्यादि

इसका उत्तर देते हुए कहते है ऐसा नहीं है। इस प्रकार के देश के साथ पुरुषों का संबंध नहीं होने से लोक का कथन अप्रमाण है। स्वर्ग के कहने वाला वेद वचन भी विधिपरक नहीं है। यदि वहां (स्वर्ग में) बिना मरे नहीं जा सकते और वहां से बिना जन्म लिए नहीं आते तो इस प्रकार का वह स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं। इसीलिए इस प्रकार का कोई देश नहीं। प्रीति ही स्वर्ग है। (अर्थात नवीन मीमांसको के अनुसार भी स्वर्ग प्रीति ही है कोई देश विशेष नहीं) अब तो शबर स्वामी ने भी कह दिया कि स्वर्ग आदि कोई देश विशेष नहीं फिर पशु को मार कर किस स्वर्ग में भेजोगे पौराणिकों?

आक्षेप— यज्ञ देवताओं की आराधना के लिए है ना कि प्रदूषण दूर करने के लिए।

प्रत्युत्तर— क्यों नहीं है प्रदूषण दूर करने के लिए? जब अलौकिक देवता होते ही नहीं और यज्ञ में उनकी आराधना लक्ष्य ही नहीं है जैसा कि मीमांसा के प्रमाण से दिखाया गया है कि देवता फल का देने वाला नहीं है अपितु यज्ञ में क्रिया ही महत्वपूर्ण होती है। तब कैसे कहा जा सकता है कि यज्ञ से देवता की आराधना होती है? यज्ञ क्रियाओं में बहुत सी ऐसी क्रियाएं होती है जिनका फल उसी समय मिलता है बिना अदृष्ट के उसमें से अग्निहोत्र से प्रदूषण दूर होना एक है। यज्ञ क्रिया निश्चित रूप से गहरे अर्थ रखती है किंतु बहुत सी क्रियाएं ऐसी होती हैं जिनसे तुरंत फल की प्राप्ति हो जाती है जैसे यज्ञ समाप्त होने पर दान देना, यज्ञ में पुराण, इतिहास, अनेक विद्याओं का उपदेश, शास्त्रार्थ, आहुति को अग्नि में डालना, इत्यादि। नास्तिक, पौराणिक तो ऐसा बोलते ही थे किंतु अब गुरुकुल में दर्शन पढ़ने वाले और आर्य समाज में भी ऐसे लोग हो गए हैं जो ऐसी बातें करते हैं। उन्हें शास्त्रों को पुनः देखने की आवश्यकता है। ऐसा कहना ही बता देता है कि शास्त्रों का अध्ययन अभी कच्चा है।

अब कुछ वेदों के विदेशी विद्वानों के देवता विषयक वचनों को देते हैं जिससे आप सब को पता चल जाए कि विदेशी विद्वान तक देवताओं को पुरुषविध विग्रहवान नहीं मानते हैं।

The gods are human in appearance. Their bodily parts are often merely illustrative of the phenomena of nature which they represent Thus the tongue and limbs of the fire God Agni merely denotes his flames. – [Hymns from the Rigveda by Macdonell, page 11.]

The individual gods corresponding to their origin from the personification of natural phenomena (page 32) since there are many phenomena, and hence many gods, (p. 33). [Rigveda by Kaegi.]

The Indra's dragon-fight refers to some powerful natural phenomenon (p. 83): [History of Indian Literature by Winternitz, Vol. I]

......Indra, Varuna, Mitra, Aditi, Visnu, Pusan, the two Asvins, Rudra and Parjanya. These gods' names. too originally, indicated natural phenomena, and natural beings. (Page 75). [History of Indian Literature by Winternitz, Vol- I]

In the hymns (RV 5.80.5-6 and 6.64.1-3) in magnificent metaphors which are intended to depict the splendour of the rising dawn (p. 91) [History of Indian Literature, by Winternitz, Vol. I]

Without the Vedic evidence we should not know, for instance, what was the original nature of the Greek gods.... the evidence, however, shows that many at I east of the Greek gods must have been personifications of natural phenomena (p 59). [Lectures on Comparative Philology, by Prof. A. Macdonell, 1926, published by the Calcutta University]

And this is chief reason why Vedic mythology is chief reason has so often proved a master-key to open some of the secret chambers of other mythological systems, whether of Greeks and Romans, or of Polynasians and Melanasians (Page 335). [Essays on Mythology and Folklore by Max Muller.]

The clouds are personified as demon called vritra or Ahi, and though the language is often hyperbolical, the original meaning of the myth is seldom completely lost sight of. But in the later poems, as the Mahabharata and Puranas, the natural phenomenon is entirely forgotten, and vritra is a literal king of the Asuras or Titans. (Page 274) [History of India by Elphinstone, 9th Edition, 1911]

Namuci-one of the malignant demons of the atmosphere who with-held the rain. [Griffith's note No. 7 on his translation of RV. V 30.7]

This legend is given in Muir's Original Sanskrit Texts, IV, p. 122, where it is pointed out that we have here the germ of the Dwarf Incarnation of Vishnu; and in A. Kuhn's treatise, 'Ueber Entwi cke-lungsstufen der Mythenbildung,' p. 128, where the following re- marks are made on the story: Here also we meet with the same struggle between light and darkness: the gods of light are vanquished and obtain from the Asuras, who divide the earth be- tween themselves, only as much room as is covered by Vishnu, who measures the atmosphere with his three steps. He represents (though I cannot prove it in this place) the sun-light, which, on shrinking into dwarf's size in the evening, is the only means of preservation that is left to the gods, who cover him with metres, i. e. with sacred hymns (probably in order to defend him from the powers of darkness), and in the end kindle Agni in the east-the dawn-and thereby once more obtain possession of the earth.' Compare also the corresponding legend in Taitt. Br. III, 2, 9, 7 [page 59 note on the story of vaman avatar in the Shatpath Brahman 1/2/5/5 translation by Julius Eggeling]

For other versions of this legend about Pragâpati (Brahman)'s illicit passion for his daughter, which, as Dr. Muir suggests, pro- bably refers to some atmospheric phenomenon, see Ait. Br. III, 33, and Tândya Br. VIII, 2, 10; cf. Muir, Original Sanskrit Texts,

IV, p. 45; I, p. 107. See also Sat. Br. II, 1, 2, 9, with note - Page 209, note on the story of Prajapati and his daughter in Shatpath Brahman 1/7/4/4 translation by Julius Eggeling

यहां पर सभी विद्वान यह बात मानते हैं कि देवता जिनका वर्णन वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि में है वे सब प्रकृति में होने वाली क्रियाओं के रूपक हैं। यहां पर अनेक विदेशी विद्वानों के द्वारा वही बात बोली जा रही है जो ऋषि आदि देवता विषय में मानते हैं। दो बातें जो देवता विषय में छूट गईं है वह यह हैं कि—

१) देवता नाम हमारे शरीर के अंगों को भी अभिप्रेत करता है। अर्थात चरक शरीर स्थान में हृदय, जिव्हा, हाथ, पैर, liver, मस्तिष्क, आदि अंगों को इंद्र, अश्विन, आदि नाम से पुकारा गया है।

२) देवताओं के नाम और उनकी कथाओं का अर्थ ज्योतिष अर्थात नक्षत्र परक भी होता है।

लेख का अंत हम निरुक्त के इस वचन से करते हैं— **माहाभाग्याद्देवताया एक "आत्मा" बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥** [निरुक्त 7/4] अर्थात— ऐश्वर्य वाला वह परमात्मा ही अनेक प्रकार से स्तुति किया जाता है। अन्य देवता उसी एक आत्मा (परमात्मा) के प्रत्यंग हैं। ओम।

॥ इति देवता निर्णय ॥

॥ मोक्षनिर्णय ॥

प्रजापतिः वे यज्ञः, तस्मिन् सर्वे कामाः सर्वाः इष्टीः सर्वम् अमृतत्वम्

निश्चय ही प्रजापति (सृष्टि के अधिष्ठाता) ही 'यज्ञ' स्वरूप हैं। उस [यज्ञ रूपी प्रजापति] में सभी कामनाएँ सभी इष्ट सिद्धियाँ या यज्ञीय अनुष्ठान, [तथा] सम्पूर्ण अमृतत्व (मोक्ष) [समाहित है]।

"यज्ञ स्वयं ईश्वर का स्वरूप है। जिस प्रकार ब्रह्मा के साम-गान से क्षत्र (शक्ति) का अभिषेक होता है, उसी प्रकार यज्ञ के अनुष्ठान से साधक 'वेदमय' और 'अमृतमय' को प्राप्त होता है। यह मार्ग केवल संन्यासियों के लिए नहीं, बल्कि उन सभी गृहस्थों और साधकों के लिए है जो **'वेदनपूर्वक अनुष्ठान'** (ज्ञानयुक्त कर्म) के माध्यम से (शीघ्र) परमात्मा को प्राप्त करना चाहते हैं। इसी यज्ञ में समस्त कामनाओं की तृप्ति और अनंत अमृतत्व का वास है।"

आकाशी वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृत स आत्मा॥ प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये।

निश्चय ही वह ब्रह्म है, जो जगत के समस्त नाम और रूपों को प्रकट करने वाला (निर्वहिता) है। वे नाम और रूप जिसके भीतर स्थित हैं, वही ब्रह्म है। वही अमृत (मोक्षस्वरूप) है और वही आत्मा (सर्वव्यापक) है।

उपर्युक्त वैदिक वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ कोई सीमित कर्म नहीं, अपितु स्वयं ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप है। प्रजापति, यज्ञ और ब्रह्म—तीनों का तात्त्विक अभेद यहाँ प्रतिपादित किया गया है। जहाँ यज्ञ है, वहीं ब्रह्म है; और जहाँ ब्रह्म है, वहीं अमृतत्व अर्थात् मोक्ष की उपलब्धि है। इस प्रकार मोक्ष किसी बाह्य त्याग या विशेष वेश का फल नहीं, बल्कि यज्ञात्मक जीवन का स्वाभाविक परिणाम है।

परमपिता परमेश्वर ने समस्त मनुष्यों के लिए नियमपूर्वक आचरण करने योग्य धर्म का उपदेश दिया है। यह धर्म ऐसा है जो इस लोक में शान्ति, व्यवस्था और सुख का हेतु है तथा परलोक के अमृतत्व और मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ ७ ॥ [गोतम न्यायसूत्र १.१.२१]

अर्थ— जितनी भी बाधाएँ हैं, अर्थात् इच्छाओं, परित्यागहीन आकांक्षाओं, वासनाओं और संबंधों से उत्पन्न सभी प्रकार की पीड़ा, वही दुःख कहलाती है।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ८ ॥ [गोतम न्यायसूत्र १.१.२२]

अर्थ— दुःखों से पूर्ण और शाश्वत मुक्ति ही मोक्ष है। ऐसा मोक्ष प्राप्त करने वाला जीव सभी दुखों से मुक्त हो जाता है, उसे कभी भी किसी प्रकार का दुःख नहीं छू सकता। वह परमेश्वर में स्थित रहता है और उसके साथ उसकी संपूर्ण आनन्द-स्थिती स्थिर रहती है। वहाँ जीव का किसी से कोई संबंध नहीं होता और केवल परमेश्वर के योग से वह सर्वज्ञ बन जाता है। उसे त्रिकालज्ञान, पदार्थों के गुण-दोष, सत्य-असत्य का पूर्ण बोध होता है। इस अवस्था में जीव संसार-सागर के सभी दुखों से मुक्त होकर परम आनंद-परमेश्वर का अनुभव करता है। उसे यह पूर्ण ज्ञान भी है कि केवल परमेश्वर में ही सुख है, अन्यत्र कभी स्थायी सुख नहीं होता। इसलिए वह कभी भी किसी दुःख में नहीं गिरता है ऐसे सुख=मोक्ष को कोन लोग प्राप्त करते हैं ऐसा कुछ लोग शंका करते हैं, कुछ मूढ़मति लोग यह आक्षेप करते हैं कि मोक्ष केवल संन्यासियों को ही प्राप्त होता है। कुछ का मत है कि संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है और शेष तीन वर्ण उससे वंचित हैं। कुछ वेदमाता का अधिकार भी उनके पुत्र शूद्रों पर नहीं मानते। ऐसे अज्ञानपूर्ण और संकीर्ण मतों को धारण करने वाले लोग मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को कैसे समझ सकते हैं? जिनके सिद्धान्त में केवल नाममात्र से ही मोक्ष हो जाता है **[साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥ ६/२/१४** = संकेत में, उपहास में, तान पलटों में, प्रमत्त प्रलाप में, किसी प्रकार भी मुरारी का नाम मुख से निकल जाये बस वह सब के सब पापों का नाश करने वाला है, ऐसा विद्वान् जानते हैं।] जैसे पुत्र का नाम नारायण रख देने से, और मृत्यु के समय पिता यदि पुत्र को पुकारते हुए “नारायण नारायण” कह दे, तो उसे मोक्ष प्राप्त हो जाए वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप और उसके साधनों को समझ ही नहीं पाते। ऐसे मतावलम्बियों के सिद्धान्तों में असंख्य दोष निहित हैं तर्कदोष, श्रुतिविरोध, स्मृतिविरोध तथा लोकानुभव-विरोध-जिनका विस्तृत निरूपण यथास्थान अन्यत्र किया जाएगा। यहाँ तो हम यह प्रतिपादित करेंगे कि मोक्ष किसे, किस प्रकार और किन-किन अवस्थाओं में प्राप्त होता है। हमारा मत है कि जो भी मनुष्य चाहे वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या संन्यासी। अपने-अपने आश्रम के कर्तव्यों का पालन करते हुए सत्य,

धर्म, यज्ञ, विद्या और ईश्वर-भक्ति में स्थित रहता है, वही मोक्ष-सुख का अधिकारी होता है। उक्त मत कि सिद्धि ही इस लेख का उद्देस्य है ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित साधक जब वेदाध्ययन, संयम और गुरु-सेवा द्वारा आत्मशुद्धि करता है, तब वही ब्रह्मज्ञान की भूमि तैयार करता है। गृहस्थाश्रम में स्थित पुरुष जब यज्ञ, दान, अतिथि-सेवा, पालन-पोषण और समाजधर्म को ईश्वरार्पण भाव से सम्पन्न करता है, तब वही कर्म यज्ञरूप होकर मोक्ष का साधन बन जाता है। वानप्रस्थाश्रम में स्थित साधक जब वैराग्य, तप और चिन्तन के द्वारा विषयासक्ति का क्षय करता है, तब वह आत्मतत्त्व में दृढ़ होता है। और संन्यासाश्रम में स्थित पुरुष जब सर्वत्यागपूर्वक ब्रह्म में स्थित होता है, तब वह उसी सत्य की चरम अनुभूति करता है, परन्तु इन चारों अवस्थाओं का लक्ष्य एक ही है और वह है मोक्ष। अतः यह स्पष्ट है कि मोक्ष न तो केवल संन्यास से बँधा हुआ है और न ही कर्म से विमुख होने का नाम है लिकिन यह याद रहे कि मोक्ष होता तो सन्यास से ही है अर्थात सन्यास=वैराग्य से अपने अपने आश्रम मे स्तिथ रह जो ब्रह्मविद्या के ग्रहण करने हारा वैरागी हो जावे वह स्वतः ही जीवन मुक्त हो देह त्याग के पश्चात मोक्ष के सुख को प्राप्त हो जाता है।

भगवती वेदमाता अपने सभी पुत्र-पुत्रियों को यह आदेश देती हैं कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ [यजुर्वेद ४०/२] मनुष्य को आलस्य का त्याग करके, सबका साक्षी और न्यायकारी परमात्मा को जानकर, उसकी आज्ञा के अनुसार शुभ कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। अशुभ कर्मों का परित्याग, ब्रह्मचर्य का पालन, विद्या और उत्तम शिक्षा की प्राप्ति, इन्द्रिय-निग्रह, संयमित आहार-विहार इन सबके द्वारा मनुष्य अपने पराक्रम को बढ़ाकर अकाल मृत्यु के भय को दूर करे और सौ वर्ष तक धर्मपूर्वक जीने की इच्छा रखे। जैसे-जैसे मनुष्य सुकर्मों में प्रवृत्त होता है, वैसे-वैसे पापकर्मों से उसकी बुद्धि निवृत्त होती जाती है और उसके भीतर विद्या, विवेक, शील और सदाचार की वृद्धि होती है। इस प्रकार वैदिक कर्मों का यथावत् अनुष्ठान करते हुए दीर्घायु जीवन जीना ही इस मंत्र का उपदेश है।

पूर्वपक्ष— तस्माद्गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानान् मोक्षप्राप्तिः, न कर्मसमुच्चयात् [शङ्कराचार्य द्वारा गीताभाष्य]=अर्थात् गीता में केवल तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है, ज्ञान-कर्म के समुच्चय से नहीं। गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों में मोक्ष का साधन तत्त्वज्ञान ही

कहा गया है। कर्म तो अविद्याजन्य हैं और बन्धन का कारण हैं। अतः मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान से होती है, न कि ज्ञान–कर्म के समुच्चय से। यदि कर्म को भी साधन मान लिया जाए, तो ज्ञान की स्वतन्त्र साधकता नष्ट हो जाती है। इसी कारण गीता का तात्पर्य सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास और केवल ज्ञान से मोक्ष मानना ही युक्तिसंगत है।

सिद्धान्ती— देखिए, यह पूर्वपक्ष प्रथम दृष्ट्या आकर्षक अवश्य है, परन्तु गम्भीर परीक्षण करने पर आत्मविरोध से युक्त सिद्ध होता है। सबसे पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कर्म को गीता और वेदों में एकरूप नहीं माना गया है। शास्त्रों में कर्म का भेद किया गया है—

१) सकाम कर्म, जो फलासक्ति से युक्त होकर बन्धन का कारण बनता है।

२) निष्काम, विधिहित कर्म, जो अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।

जहाँ कर्म का निषेध है, वहाँ सकाम कर्म का निषेध है, न कि समस्त कर्मों का।

पूर्वपक्ष— किन्तु यदि ज्ञान हो जाने पर भी कर्म अपेक्षित है, तो ज्ञान की पूर्णता कैसे मानी जाए? पूर्ण ज्ञान के पश्चात् भी कर्म की आवश्यकता स्वीकार करना ज्ञान की अपूर्णता को ही दर्शाता है।

सिद्धान्ती— यह आपत्ति तभी उत्पन्न होती है जब ज्ञान को केवल बौद्धिक निश्चय मान लिया जाए। परन्तु वेदान्त में ज्ञान केवल विचार मात्र नहीं है, वह अनुष्ठानसहित बोध है। ज्ञान दो स्तरों पर होता है—

१) तत्त्वनिश्चयात्मक ज्ञान (बुद्धि में सत्य का निश्चय)

२) तत्त्वानुष्ठानात्मक ज्ञान (उस निश्चय का जीवन में अवतरण)

जब तक ज्ञान का अनुष्ठान नहीं होता, तब तक राग-द्वेष, वासना और संस्कार क्षीण नहीं होते। इसी कारण गीता कहती है **बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि** (गीता २.३९)=यहाँ ज्ञान से कर्म का त्याग नहीं, बल्कि कर्म के बन्धन का नाश कहा गया है।

पूर्वपक्ष— किन्तु "**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति**" [यजुर्वेद ३१.१८] जैसे मन्त्र तो केवल ज्ञान से ही मोक्ष बताते हैं। तब ज्ञान–कर्म–समुच्चय कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

सिद्धान्ती— इस मन्त्र में प्रयुक्त "**विदित्वा**" शब्द पर ध्यान दीजिए। यह विधिलिङ् अर्थ में प्रयुक्त है, जो स्वयं एक मानस कर्म है।

अर्थात्— ब्रह्म का स्वरूपनिश्चय=ज्ञानांश उस निश्चय का निरन्तर अभ्यास, ध्यान, वैराग्य=कर्मांश, इस प्रकार यहाँ भी ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही मोक्ष का साधन है, न कि ज्ञान मात्र।

इस प्रकार कर्म की श्रेष्ठता कथन करके फिर [यजु ४० । ११] में यह वर्णन किया है कि— **विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंꣳ सह।अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥१४॥** = जो व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों को उनके वास्तविक स्वरूप से समझता है, और जानता है कि विद्या और अविद्या दोनों ही जड़ और चेतन पदार्थों के साधक हैं, वह अपने जीवन को सूक्ष्म विवेक और तात्त्विक दृष्टि से संचालित करता है। वह जानता है कि केवल जड़ पदार्थ या केवल चेतन आत्मा, न केवल कर्म या न केवल ज्ञान, अकेले किसी भी प्रकार धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष की सिद्धि में सक्षम नहीं हैं। इस प्रकार, वह विद्या के मार्ग से आत्मा और शुद्ध अंतःकरण को जानकर, अविद्या के माध्यम से शारीरिक और लौकिक साधनों का प्रयोग कर, जीवन के विभिन्न पक्षों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को संतुलित रूप से साधता है। परिणामतः वह जड़ और चेतन, कर्म और ज्ञान सभी साधनों के सम्मिलन से लौकिक दुःखों को पार कर, परमार्थ के अमृतमय सुख को प्राप्त होता है।

अब एक मूल प्रश्न पर विचार कीजिए ज्ञान प्राप्त करने की जो विधि है, क्या उसे मिथ्या स्वीकार कर लिया जाए? यदि केवल ज्ञान से ही मोक्ष होता है और कर्म सर्वथा त्याज्य हैं, तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन, गुरुसेवा, शास्त्राध्ययन, इन्द्रियनिग्रह, तप, संयम, वैराग्य ये सब किस श्रेणी में आएँगे? ये सभी कर्म ही तो हैं। यदि आप ज्ञानप्राप्ति की विधि को मिथ्या कहेंगे, तो ज्ञान स्वयं भी मिथ्या हो जाएगा क्योंकि साधन और साध्य में विरोध स्वीकार करना आत्मघात है। अतः ज्ञान की सिद्धि के लिए परिश्रमरूप कर्म अनिवार्य हैं। अब बृहदारण्यक का यह वचन देखिये **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति** (बृहदा. ४.४.२२)= ब्रह्म के ज्ञान की अभिलाषा वेदानुवचन अर्थात् वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा ही उत्पन्न होती है। यहाँ ज्ञान और कर्म को पृथक् नहीं किया गया, अपितु परस्पर अविच्छिन्न माना गया है।

स्वयं शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (३.४.२७) के भाष्य में यह स्वीकार किया है कि कर्म ज्ञानोत्पत्ति में सहकारी है। यदि कर्म ज्ञान की उत्पत्ति का साधन है और ज्ञान मोक्ष

का साक्षात् साधन है, तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह भी ज्ञान–कर्म–समुच्चय का ही एक प्रकार है। अतः गीता-भाष्य में केवल ज्ञानवाद की स्थापना स्वयं आचार्य के अन्य ग्रन्थों से भी असंगत प्रतीत होती है।

पूर्वपक्ष— 'ज्ञानी' या 'योगी' के लिए कर्मों की कोई आवश्यकता नहीं है। चूंकि उसने आत्म-साक्षात्कार (आत्मलाभ) कर लिया है, अतः क्रिया मात्र प्रकृति का धर्म है और योगी प्रकृति से परे है। "**नैव किञ्चित् करोमीति**" (मैं कुछ नहीं करता) [गीता ५/८] के भाव में स्थित योगी को कर्मों से क्या प्रयोजन? अतः ध्यान के पश्चात कर्म का विधान करना अनुचित है।

सिद्धान्ती— मायावादियों के मत में इसके अर्थ यो कर करते हैं— **"यस्यैव तत्त्वविदः सर्वकार्य्यकरण चेष्टासु कर्म-स्वकर्मैव पश्यतः सम्यग्दर्शिनस्तस्यसर्वकर्मसंन्यास एकाधिकारः कर्मणोऽभावदर्शनात्।"** [शंकरभाष्य]

"उस तत्त्वज्ञानी (ब्रह्मवेत्ता) के लिए, जो शरीर और इन्द्रियों की समस्त क्रियाओं में 'अकर्म' ही देखता है अर्थात जो सम्यक्दर्शी (पूर्ण ज्ञानी) है उसके लिए केवल सर्वकर्मसंन्यास (सभी कर्मों का त्याग) ही एकमात्र अधिकार है, क्योंकि उसे कर्मों का अभाव दिखने लगता है।"

यह भाव जो मिथ्यावादियों ने इस श्लोक का निकाला है यह कदापि नहीं, यदि यह सब कर्म मिथ्या होने से वह अकर्ता समझा जाता तो आगे के श्लोक में इससे विरुद्धार्थ वर्णन न किये जाते, जैसाकि— **ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोतिः। लिप्यते न सपापेन पद्मपत्रमिवांमसा। १०।**=आशय यह है कि जो केवल ईश्वरार्थ कर्म करता है वह कर्मों के सङ्ग को माप नहीं होता अर्थात् उसके कर्म निष्काम ही होते हैं, जैसाकि स्वामी के लिये काम करने वाला सेवक उस कर्म के फल से मुक्त समझा जाता है यद्यपि काया, मन, बुद्धि अथवा केवल इन्द्रियों से योगीजन कर्म करते हैं पर जब वह कर्म किसी अन्य फल की इच्छा न करके केवल आत्मा की शुद्धि के लिये कामना से किये जाते हैं तब वह उन कर्मों को करता हुआ भी अकर्ता ही कह्लाता है अतः कर्म को ध्यान का 'विस्तार' बनाना अनिवार्य है। यदि सिद्ध योगी कर्म का परित्याग कर देंगे, तो सामान्य जन 'कर्मण्यता' से विमुख होकर प्रमाद (आलस्य) को ही योग समझ बैठेंगे। योगी का कर्म करना समाज के लिए मर्यादा है। योगी कर्मों का त्याग नहीं करता, बल्कि 'कर्मों में कर्तृत्व' का त्याग

करता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता बना रहता है। **भगवान हारीत** का मत स्पष्ट है कि 'आत्मलाभ' का सुख और 'शास्त्रविहित कर्म' एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। ध्यान अंतर्मुखी योग है, तो निष्काम कर्म बहिर्मुखी योग है। इसी कारण संन्यासी भी सर्वकर्मत्यागी नहीं गीता इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है **न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः** (गीता १८.११)=देहधारी जीव के लिए समस्त कर्मों का त्याग असम्भव है। संन्यासी का त्याग कर्म का नहीं, कर्मफल का है। भगवान् स्वयं यह कहते हैं **एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति** (गीता ५.४)= जो ज्ञान और कर्म को पृथक् देखता है, वही अज्ञानी है। पण्डित पुरुष दोनों में अभेद देखता है। इसी को और स्पष्ट करते हुए कहा गया **अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥** (गीता ६.१)=पदा०-(यः) जो पुरुष (कर्मफलं) कर्मके फल को (अनाश्रितः) आश्रय न करके (कार्य,कर्म) कर्तव्य कर्म को (करोति) करता है (सः,संन्यासी) वही संन्यासी (च) और योगी है (च) और (न, निरागेः) जो अग्नि को स्पर्श न करें (न,च, अक्रियः) और जो कर्म न करता हो वह संन्यासी नहीं।

संन्यास का अर्थ प्रायः बाह्य त्याग समझा गया, किंतु वस्तुतः यह त्याग 'पलायन' नहीं, अपितु 'परिशोधन' है। ज्ञान और कर्म के मध्य जो कृत्रिम खाई खोदी गई है, उसे पाटना ही आध्यात्मिक पूर्णता का शंखनाद है।

शंका की जाती है कि यदि ज्ञान कर्मों का नाशक है, तो मुक्ति में कर्मों का अस्तित्व कैसे रह सकता है? इस शंका का समाधान महर्षि व्यास ब्रह्मसूत्र (४.४.२८) में करते हैं: छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥ **पदार्थ—** (छन्दतः) मुक्त पुरुष अपनी स्वेच्छा या संकल्प से [व्यवहार करता है], क्योंकि (उभयाविरोधात्) ज्ञान और संकल्प रूपी कर्म में कोई विरोध नहीं पाया जाता। मुक्त पुरुष की स्वाभाविक वृत्तियों से यह स्पष्ट होता है कि मुक्ति में स्थूल कर्म भले ही न रहें, किंतु 'मानस कर्म' और संकल्प की शक्ति बनी रहती है। इसका प्रमाण हमें [छान्दोग्योपनिषद् ८.१२.५] में मिलता है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है [छान्दोग्य ८/१२/५]

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा। मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ ५॥

पदार्थ— (अथ) और (यः) जो [यह] (वेद) जानता है कि (इदं मन्वानि) "मैं इसे जानूँ या इसका मनन करूँ", (इति) ऐसा [निश्चय करने वाला] (सः आत्मा) वह आत्मा है। (मनः) मन (अस्य) इस [आत्मा] का (दैवं चक्षुः) दिव्य चक्षु (इन्द्रिय) है। (सः वै एषः) वह यह [आत्मा] (एतेन दैवेन चक्षुषा) इस दिव्य चक्षु (मनसा) मन के द्वारा (एतान् कामान्) इन [ब्रह्मलोक के] भोगों को (पश्यन्) देखता हुआ (रमते) रमण करता है (आनन्दित होता है)।

मुक्ति के मार्ग में ज्ञान और कर्म के मेल को अनिवार्य बताते हुए ब्रह्मसूत्र मे भगवान व्यास यह कथन करते हैं कि गतरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः॥ (३.३.२९)

पदार्थ— (उभयथा) ज्ञान और कर्म का समुच्चय मानने से ही (गतेः) मुक्त पुरुष की गति (अर्थवत्त्वं) सार्थक हो सकती है, (अन्यथा) यदि ऐसा न माना जाए तो (हि) निश्चय ही श्रुति वाक्यों में (विरोधः) विरोध उत्पन्न होगा। वैदिक साहित्य में जहाँ एक ओर कर्म की श्रेष्ठता बताई गई है, वहीं दूसरी ओर ज्ञान की महिमा है।

दुराग्रहि— सन्यासी को तो कर्म के साथ साथ अग्नि क भी त्यग कर देना चाहिये

उत्तर— आपकी संन्यास की यह अवधारणा जो केवल अग्नि-स्पर्श के त्याग (निरग्नि) और लोक-कर्तव्यों से मुख मोड़ने (निष्क्रियता) तक सीमित है, वह निर्विवाद रूप से अवैदिक और मिथ्या है। संन्यास कोई ऐसा वेश नहीं जिसे ओढ़कर कर्मों की आहुति दे दी जाए, बल्कि यह वह दृष्टि है जिसे धारण कर प्रत्येक कर्म को 'यज्ञ' बना दिया जाता है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"। जो सन्यासी को कर्म करने कि अवशक्ता नही होती तो श्रुति ऐसी आग्या न देती यह मंत्र का अर्थ उपर कह दिया है सो अब इस मंत्र का विशिस्थ अर्थ सुनिये:- मनुष्य को कर्मविहीन होकर बैठने की अनुमति नहीं देता, अपितु कर्म करते हुए ही शतायु होने की प्रेरणा देता है। जो संन्यास कर्म का सर्वथा निषेध करता है, वह वेद के इस मौलिक आदेश का विरोधी है। जीवन का प्रवाह कर्म में है, और देह की सार्थकता कर्म की अंतिम परिणति तक बनी रहती है। इसी क्रम में, "भस्मान्तं शरीरम्" कह देह की अंतिम गति को रेखांकित करता है। जब वेद स्वयं शरीर के अंत को 'भस्म' (अग्नि संस्कार) में स्वीकार करते हैं, तब संन्यासियों को मृत्यु के उपरान्त भूमिगत करना या दबाना उसी स्मार्त विकृति का परिणाम है जिसने 'निरग्नि' शब्द का अनर्थ कर दिया। संन्यासी के लिए अग्नि का त्याग 'सकाम' अग्निहोत्र का परित्याग था, न कि अन्तिम संस्कार

की पवित्र अग्नि का निषेध। साम्प्रदायिक संन्यास ने जब रूढ़ियों का चोला पहना, तभी से मृतदेह को अग्नि न देने की अवैदिक परम्परा चल पड़ी, जिसका खण्डन गीता ने सप्रमाण और सतेज किया है। अतः सत्य यही है कि जो निष्काम भाव से अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन कर रहा है, वही यथार्थ में ज्ञानी है, वही संन्यासी है और वही योगी है। केवल अग्नि न जलाना या अकर्मी बनकर बैठ जाना संन्यास नहीं, अपितु कर्तव्य की वेदी पर स्वार्थ की बलि चढ़ा देना ही वास्तविक योग है। गीता का दर्शन इसी सक्रिय संन्यास का महिमामंडन करता है, जहाँ साधक संसार के मध्य रहकर भी उससे अलिप्त रहता है।"
भगवान शंख कहते हैं:- तमेवाग्निमात्मन्यारोप्य "जिस अग्नि में अब तक वह बाह्य यज्ञ करता था, उसी अग्नि को अब अपने आत्मा में आरोपण करे।" अर्थात् अब संन्यासी का यज्ञ बाह्य अग्नि में नहीं, आत्माग्नि में होता है। जब तक मनुष्य गृहस्थ होता है, तब तक वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि आदि तीन अग्नियों में देवपूजन, यज्ञ, हवन आदि करता है। परंतु जब वह संन्यास ग्रहण करता है, तब वे सब बाह्य अग्नियाँ "आत्म-अग्नि" में लीन मानी जाती हैं। यही है "तमेवाग्निमात्मन्यारोप्य" अर्थात् वही अग्नि अब भीतर आत्मभाव में स्थित हो जाए। अब देखो, यही बात मनुस्मृति में भी स्पष्ट कही गई है:-

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममनर्थमाश्रयेत्। उपेक्षकोऽसङ्कलुको सुनिमावसमाहितः॥

वह संन्यासी (अनग्निः) आइयनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बाँधे, और अन्न यक्षादि के लिये प्राम का आश्रय लेवे,बुरे मनुध्यों को चपेच्चा करता और स्थिर बुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावनाका समाधान करता हुआ विचरे यह इस श्लोकका ऋषि कृत अर्थ है।

यहाँ "अनग्निः" शब्द का अर्थ अग्नि-त्याग नहीं है, बल्कि अग्नि संस्कार का आत्मभाव में लय है। संन्यासी बाह्य अग्नियों को छोड़कर अपने अन्तःकरण की अग्नि में यज्ञ करता है अर्थात् आत्मबोध, तप, ध्यान, और सत्य में स्थित होकर देवपूजन करता है। परन्तु, कुछ अविवेकी लोगों ने इस "अनग्निः" पद का अर्थ "अग्नि को न छूना", यहाँ तक कि संन्यासी का दाह न करना,ऐसा विकृत रूप में ग्रहण कर लिया। यही भ्रम आगे चलकर संन्यासियों के मृतदेह के अदाहसंस्कार के रूप में फैल गया जो कि वेद और मनुस्मृति दोनों के विरुद्ध है।

ऋषियों के मत से "अनग्निः "का अर्थ है बाह्य अग्नियों का त्याग और आत्माग्नि में आराधना का आरम्भ। परन्तु मूढ़ाचार्यों ने इसे "अग्नि सेस्पर्श-वर्जन" समझ लिया। यही कारण है कि ऋषि दयानंद कहते हैं—

"इसी पद से भ्रांति में पढ़ के संन्यासियों का दाह नहीं करते,और यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहाँ आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है।" संन्यासी को चाहिए कि वह भय, लोभ, मोह, क्रोध, शोक, द्रोह, मद, और मत्सर इन समस्त क्लेशों से रहित हो जाए। क्योंकि जब तक मन इन विकारों में उलझा है, वह सच्चा संन्यासी नहीं केवल वस्त्र-धारी बनकर रह जाता है। संन्यास के लिए कोई निश्चित समय न सोचो 'अभी नहीं, कल लूँगा', 'थोड़ा और सोचूँगा' ऐसा विचार मूर्खता है। क्योंकि मन अनवस्थित है, स्थिर नहीं रहता; आज जो वैराग्य जागा है, वह कल क्षीण हो सकता है। अतः जब वैराग्य प्रकट हो, उसी क्षण उसे पकड़ लो वही क्षण सच्चा संन्यास का अवसर है। इसपर ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रमाण देखिए:- **यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा।** अर्थात् जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो, उसी दिन संन्यास ले ले चाहे वह गृह में हो या वन में। ऋषि दयानंद ने इसे उद्धृत करते हुए लिखा है—

"अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृह्णीयात् इति द्वितीयः पक्षः। ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् सम्यग्ब्रह्मचर्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृह्णीयात् इति तृतीयः पक्षः।"=पहला पक्ष यह है कि वानप्रस्थ आश्रम को किए बिना भी गृहस्थ जीवन के बाद संन्यास लिया जा सकता है, और दूसरा, इससे भी उच्च पक्ष यह कि यदि ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्णता से निभाया है, तो गृहस्थ या वानप्रस्थ हुए बिना भी, सीधे संन्यास आश्रम ग्रहण किया जा सकता है।

प्राचीन मीमांसक आत्मिक ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार करते हैं— **आत्मयज्ञस्तु भिक्षूणामात्मन्येव व्यवस्थितः॰**=विद्वान लोग मंत्र, हवन और अग्नि के मिलन को यज्ञ मानते हैं, लेकिन संन्यासी का असली यज्ञ उसकी आत्मा में स्थित आत्म-यज्ञ है। **त्रयो यज्ञस्तृतीयस्तस्य प्राणाः प्राणैर्यज्ञस्त्वायते कर्मयोगात्॰**=तीन प्रकार के यज्ञ हैं, जिनमें तीसरा यज्ञ प्राणों से जुड़ा है। प्राणों के द्वारा यह कर्मयोग से बढ़ता है। **त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वं विष्णोः॰**=हे सर्वव्यापक! आप प्राणियों के हृदय में रहते हैं। आप ही यज्ञ हैं। **अन्तर्यजने**

आत्मनि आत्मानं०=हृदय के भीतर होने वाले यज्ञ में व्यक्ति को अपनी आत्मा को पूरी तरह जानना चाहिए। वह यह अनुभव करे कि जीव (आत्मा) और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, यानी अध्यास (भ्रम या असत्य भेदभाव) को हटाकर जीव और ईश्वर की एकता को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करे। इससे क्या आया? यह कि अग्नि को आत्मा में धारण करना संन्यासी को भाया, अग्निहोत्र को त्यागना चाहिए, न कि अंत्येष्टि में शरीर को अग्नि में भस्म करना।

शंका— वह कौन सा पुरुष है जो ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मविद्) हो, ब्रह्म में विचरण करता हुआ अंततः ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है?

उत्तर— (मन्त्र) **तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति०** [छान्दोग्य ६.१४.२]

अर्थ— जिस प्रकार किसी व्यक्ति की आँखों पर पट्टी बाँधकर उसे उसके देश से दूर किसी निर्जन वन में छोड़ दिया जाए, तो वह दिशाभ्रमित होकर भटकने लगता है। वैसे ही अज्ञानी मनुष्य इस संसार की मोह-माया और अविद्या के जाल में फँसा हुआ है; वह यह नहीं जानता कि उसका वास्तविक स्वरूप और परम लक्ष्य (ब्रह्म) कहाँ है। तब यदि कोई दयालु पुरुष उसकी आँखों की पट्टी (अज्ञान का बंधन) खोलकर उसे मार्ग दिखाते हुए कहे— "हे पुरुष! इस दिशा में गन्धार देश है, तुम इसी दिशा में आगे बढ़ो।" तब वह बंधनमुक्त हुआ पुरुष 'पण्डित' (सत्य-असत्य का विवेकी) और 'मेधावी' (धारणा शक्ति से युक्त) होकर, एक गाँव से दूसरे गाँव का मार्ग पूछते हुए, अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ के प्रयोग से अंततः अपने गंतव्य 'गन्धार देश' पहुँच ही जाता है।

ठीक इसी प्रकार, इस संसार में वही पुरुष यथार्थ ज्ञान (ब्रह्म) को प्राप्त कर पाता है जो 'आचार्यवान' है, अर्थात जिसके पास सत्य का उपदेश देने वाले श्रेष्ठ गुरु हैं। आचार्य केवल सत्य मार्ग का निर्देश करते हैं, परंतु उस मार्ग पर चलना और निरंतर वेदों के ज्ञान का मनन करते हुए आगे बढ़ना साधक का अपना व्यक्तिगत पुरुषार्थ है। जो चारों वेदों के वास्तविक तत्व को समझने की तीव्र जिज्ञासा रखता है, वही उस परम पद (मोक्ष) तक पहुँचने में समर्थ होता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण शंका का समाधान भी किया गया है— "यदि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसी क्षण मोक्ष (शरीर त्याग) क्यों नहीं हो जाता?" इसका उत्तर यह है

कि जैसे लक्ष्य का मार्ग ज्ञात हो जाने पर भी वहाँ तक पहुँचने में कुछ समय लगता है, वैसे ही ज्ञान प्राप्त होने पर साधक 'जीवन्मुक्त' तो हो जाता है, किंतु उसकी पूर्ण विदेह-मुक्ति (ब्रह्म में पूर्ण लय) तब तक नहीं होती जब तक कि उसके वर्तमान शरीर के 'प्रारब्ध कर्म' (वे कर्म जिनका फल भोगना अभी शेष है) समाप्त नहीं हो जाते। जैसे ही प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा होता है और शरीर का बंधन छूटता है, वह ब्रह्मवेत्ता बिना किसी विलम्ब के परमात्मा में लीन हो जाता है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद में सबसे प्रसिद्ध गाथा **राजा जनक** और महर्षि याज्ञवल्क्य के संवाद की है। एक अवसर पर राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा **अत ऊर्ध्वे विमोक्षायैव ब्रूहीति**="हे महर्षि! अब आप मेरे लिए मोक्ष का उपदेश करें।" तब भगवान याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया "हे राजन्! जिस प्रकार यह जीव स्वप्न और सुषुप्ति जैसी अवस्थाओं से होकर, अंतिम रूप से सुषुप्ति की अवस्था में पहुँचकर सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार **मुक्ति** में भी जीव सभी दुःखों से छूटकर **ब्रह्म का शाश्वत आनंद** अनुभव करता है। यही कारण है कि ऐसा पुरुष **असङ्ग** कहलाता है। जब वह इस **ब्रह्मानंद-आमृत** का अनुभव करता है, तो सभी दुःख उससे दूर हो जाते हैं।" जनक, इस उपदेश से इतना अधिक प्रभावित होजाते हैं कि, वह मुनि से पुनः मुक्ति के विषय में और अधिक उपदेश करने कह्ते हैं जिज्ञासु जन वहा से देख लेवे अंश्मात्र हम यहाँ दे देते हैं—

जिस प्रकार बड़ा मत्स्य नदी की लहरों में दोनों किनारों तक तैरता है, उसी प्रकार यह पुरुष **जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मुक्ति जैसी अवस्थाओं** में अनादिकाल से विचरता है। किन्तु वह **अभयपद** तभी प्राप्त करता है जब वह **मोक्ष की अवस्था** को धारण करता है, अर्थात् **परब्रह्म का साक्षात्कार** कर लेता है। उस अवस्था में उसे कोई **शोक, मोह या भय** नहीं रहता। यही वह **परमपद** है, जिसे प्राप्त करने के बाद अन्य कोई प्राप्यस्थान शेष नहीं रहता। यही वह अवस्था है, जिसके लिए जीव को **मनुष्य जन्म** मिलता है। इस पद को प्राप्त कर पुरुष **सर्वथा निर्भय** हो जाता है। ऐसा ऐसा कह मुनि ने कहा "हे जनक! अब तू **अभयपद** को प्राप्त हो गया है।"

यह पद, जिसे औपनिषदों का मुख्य लक्ष्य कहा गया है, मोक्ष का पद है। इसे जीवनमुक्ति=जिसमें जीव संपूर्ण दुःखों, भय और मृत्यु के डर से मुक्त हो जाता है और परब्रह्म के साथ पूर्ण समता में स्थित होता है। यही वह स्थिति है जो महाकाल (मृत्यु के

अधिपति) को भी अकाल बना देती है, अर्थात् मृत्यु का भय और मृत्यु का प्रभाव उस जीव को स्पर्श नहीं कर सकता। इसी कारण प्राचीन ऋषियों ने उपनिषदों को मृत्युरूप रोग की एकमात्र औषधि माना। उपनिषद ज्ञान का अध्ययन और चिंतन करने वाला जीव संसार-सागर में निर्भय और मुक्तचित्त होकर विचरता था। मोक्ष ही वह पद है, जिसे प्राप्त करके जीव जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर परम आनंद और निर्विकल्प ब्रह्म-स्थिति में स्थायी रूप से निवास करता है। "तथ्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसश्चरति पूर्वज्ञापरथैवमेवायं पुरुष एताबुभावन्तावनुसञ्चरति स्वमान्त च बुद्धान्तं च" [बृहदा० ४।३।१८]=(तद्+यथा) वह जिस प्रकार (महामत्स्यः) एक विशाल मछली (नद्याः उभे कूले) नदी के दोनों किनारों पर (अनुसञ्चरति) बारी-बारी से विचरण करती है या जाती है (पूर्वम् च अपरम् च) पूर्व (दाएं) और अपर (बाएं) किनारे की ओर (एवम् एव) ठीक उसी प्रकार (अयम् पुरुषः) यह पुरुष=जीवात्मा (एतौ उभौ अन्तौ) इन दोनों अवस्थाओं या सीमाओं के बीच (अनुसञ्चरति) निरंतर आता-जाता रहता है (स्वप्रान्तं च) स्वप्न अवस्था में (बुद्धान्तं च) और जाग्रत अवस्था में उक्त वच्नानुसर निरुक्तकार भगवान यास्क कह्ते हैं— **यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति।** (यदि ज्ञानम् अनुरुध्यते) यदि पुरुश उस 'ज्ञान' [आत्म-साक्षात्कार की विद्या] का ही निरंतर अनुसरण करता है और उसी के प्रति निष्ठावान रहता है,(तद् अमृतो भवति) तो वह [इसी देह में] 'अमृत' = जन्म-मरण और पतन के भय से मुक्त हो जाता है। भगवान् यास्क के अनुसार मनुष्य कब अमृत होता है?

उत्तर— यास्क कहते हैं— “**यदि ज्ञानम् अनुरुध्यते तद् अमृतो भवति**”=यदि पुरुष आत्मसाक्षात्कार के ज्ञान का निरंतर अनुसरण करता है और उसी में निष्ठावान रहता है, तो वह इसी देह में जन्म-मरण तथा पतन के भय से मुक्त होकर अमृत हो जाता है।

प्रश्न— यहाँ ‘ज्ञान’ से क्या अभिप्राय है?

उत्तर— यहाँ ‘ज्ञान’ से तात्पर्य आत्म-साक्षात्कार की विद्या से है—वह ज्ञान जो आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध कराता है, न कि केवल शाब्दिक या बौद्धिक जानकारी।

प्रश्न— ज्ञान का वास्तविक विषय क्या है?

उत्तर— ज्ञान का वास्तविक विषय है “अक्षरं ब्रह्मणस्पतिम्”। अर्थात् वह अक्षर ब्रह्म जो न नष्ट होता है, जो जन्म-मरण से परे है और जो सर्वथा अविनाशी है।

प्रश्न— क्या यह ब्रह्म सामान्य विद्या से जाना जा सकता है?

उत्तर— नहीं। शास्त्र कहते हैं न तं विद्यया विदुषः=यह अक्षर ब्रह्म बाह्य, सामान्य विद्या से नहीं जाना जाता, बल्कि आत्मानुभूति और प्रत्यक्ष बोध से ही जाना जाता है।

प्रश्न— जो इस ज्ञान का अनुसरण करता है, उसकी गति क्या होती है?

उत्तर— जो पुरुष इस ब्रह्म-ज्ञान में स्थित होता है, **"उदमयनाद् देवलोकम्... ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति।"**=अर्थात् वह क्रमशः उद्गमन-मार्ग से देवलोक, आदित्य, विद्युत् और मानस लोक को पार कर **ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है**। यह कोई भौतिक यात्रा नहीं, बल्कि **चेतना की उत्तरोत्तर उन्नति** का प्रतीक है। श्रीकुमारिलभट्ट अपने श्लोक वार्तिक मे कहते हैं:- **सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते। स्वर्ग एवं भवद्वेषः पर्य्यायेण क्षयी च सः॥**

अर्थ— यदि केवल **सुख-भोग** ही मोक्ष होता, तो वह स्वर्गादि लोकों के समान क्षणभंगुर और नश्वर होता। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि **सच्ची मुक्ति केवल निर्बीज समाधि द्वारा परमात्मा में पूर्ण समर्पण और ब्रह्म-संयोग प्राप्त करने में निहित है**। यही स्थायी, शाश्वत और निर्विकार मोक्ष है, जो क्षणिक सुख या भौतिक आनंद से कभी तुलना नहीं की जा सकती।

शंका! क्या सन्यासी के अतिरिक्त और कोई मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता?

उत्तर:- महर्षि आदिगुरु भगवान कपिल का कथन है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः। त्रयस्त्रिवर्गान् यो वेद शुद्धात्मनि स लीयते॥

अर्थ— जो मनुष्य पच्चीस तत्त्वों (सांख्य के 25 तत्त्वों) का ज्ञाता है और किसी भी आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास) में स्थित होकर भी उन तत्त्वों का चिन्तन करता है और जो धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का यथार्थ ज्ञान रखता है, वह अन्ततः मुक्ति को प्राप्त होता है। ब्रह्मर्षि पञ्चशिखाचार्य ने इसी श्लोक को थोड़ा स बदलकर लिखा है भगवान कपिल के श्लोक मे कुछ अर्थ विशिष्टता भी है। अस्तु दोनों ही श्लोक एक ही अर्थ को पुष्ट कर रही हैं।

भगवान पञ्चशिख ने भी उक्त बात करी है इनका श्लोक कुछ पाठभेद के साथ है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे स्थितः। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

पदार्थ— (पञ्चविंशतितत्त्वज्ञः) पञ्चविंशति तत्त्वों का ज्ञाता व्यक्ति (यत्रतत्र-आश्रमे-स्थितः) किसी भी आश्रम में स्थित हो (जटी-मुण्डी-शिखी-वा-अपि) जटाधारी हो, मुण्डित हो, अथवा शिखाधारी हो, वह (मुच्यते-न-अत्र-संशयः) मुक्त हो जाता है; इसमें कोई संशय नहीं है।

महाभारत मे भी यही कहा गया है श्लोक है—

यत्र तत्र संवसंस्त्रिवर्गविच्छुछिः शुचिर्हि पञ्चविंशकः। तथैव षड्विंशकत्वमवबुध्यते यदा तदा शुचिर्भवेदिति॥

अर्थ— जो व्यक्ति कहीं भी किसी भी आश्रम मे रहकर धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों से विरक्त रहता है, वह पञ्चविंशतितत्त्व का ज्ञाता होने के कारण वास्तव में शुद्ध कहा जाता है। और जब वह षड्विंशतत्त्व अर्थात् ईश्वर का भी बोध कर लेता है, तब वह पूर्ण रूप से शुद्ध अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार का एक श्लोक इसी अर्थ को पुष्ट करते हुए भगवान यम का भी प्राप्त होता है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः। प्रकृतिज्ञो विकारज्ञः स दुःखात् परिमुच्यते॥

अर्थ— जो पुरुष पञ्चविंशति तत्त्वों अर्थात् प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन इनका साक्षात् ज्ञान रखता है, वह चाहे किसी भी आश्रम (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी) में स्थित हो, यदि वह प्रकृति और उसके समस्त विकारों को जानता है, तो वह संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। शांतिपर्व २७० में भगवान कपिल—

तं सन्तो विधिवत् प्राप्य गच्छन्ति परमांगतिम्। गृहेभ्य एव निष्क्रम्य वनमन्ये समाश्रिताः॥ २३॥ गृहमेवाभिसंश्रित्य ततोऽन्ये ब्रह्मचारिण। त पते दिवि दृश्यन्ते ज्योतिर्भूता द्विजातयः॥ २४॥ नक्षत्राणीव धिष्ण्येषु बहवस्तारकागणाः। आनन्त्यमुपसम्प्राप्ताः संतोषादिति वैदिकम्॥ २५॥

अर्थ— श्रेष्ठ पुरुष उन आश्रमों को शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्राप्त करके और उनका पालन करते हुए परम गति को प्राप्त करते हैं। कुछ लोग घरों से ही निकलकर संन्यासी होकर, कुछ वन का आश्रय लेकर वानप्रस्थी होकर, तथा कुछ गृहस्थ का ही आश्रय लेकर और कुछ ब्रह्मचारी रहकर परमपद को प्राप्त होते हैं। वे सभी द्विजगण आकाश में ज्योतिर्मय रूप से दिखाई देते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अपने-अपने स्थानों पर स्थित नक्षत्र और बहुत से तारागण होते हैं। संतोष के द्वारा इस अनन्त पद को इन सबने प्राप्त किया है, ऐसा वैदिक सिद्धांत है। २३-२५॥

इस मार्ग पर जाने वाले कौन लोग दुखी होते हैं और कौन ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं, आगे भगवान कहते हैं कि— **साधारणः केवलो वा यथाबलमुपासते। गच्छतां गच्छतां क्षेमं दुर्बलोऽत्रावसीदति । ब्रह्मण: पद्मन्विच्छन संसारान्मुच्यते शुचिः॥ ३२॥**

अर्थ— सामान्य शक्ति वाला साधक अथवा अद्वितीय शक्ति वाला साधक, अपनी-अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उपासना करते हैं। निरंतर मार्ग पर चलते रहने वाले साधकों का कल्याण होता है, परन्तु इस मार्ग में जो निर्बल है वह दुःखी होता है या मार्ग में ही रुक जाता है। ब्रह्म के उस परम पद को खोजने वाला पवित्र पुरुष संसार के बंधनों से मुक्त हो जाता है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मुक्ति में किसी आश्रम विशेष का नियम नहीं है।

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन। न वै देवाश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥ ३/६/१

पदार्थ— (तद्यत्प्रथमममृतं) वह जो प्रथम 'अमृत' (परम आनंद स्वरूप मोक्ष) है, **(तद्वसव उपजीवन्ति)** उसका रसास्वादन '**वसव**' नाम के देव करते हैं। **(अग्निना मुखेन)** अग्नि के समान तेजस्वी मुख के माध्यम से (अर्थात् ज्ञान की दीप्ति से)। **(न वै देवाश्नन्ति न पिबन्ति)** निश्चय ही वे दिव्य पुरुष (मुक्त आत्माएं) न तो कुछ भौतिक अन्न खाते हैं और न ही कुछ

पीते हैं; **(एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति)** वे केवल इस 'अमृत' (ब्रह्म-आनंद) का साक्षात्कार करके ही पूर्ण तृप्त हो जाते हैं।

विशिष्ठ अर्थ— यहाँ 'अमृत' का अर्थ 'मोक्ष' नामक ब्रह्म ही है; उस अमृत को प्राप्त करके, अग्नि के समान देदीप्यमान मुख से युक्त होकर वे सुशोभित होते हैं। '**वसव**' यहाँ वे ब्रह्मचारी हैं जिन्होंने चौबीस वर्ष तक अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है। वे मोक्षधाम में परमानन्द के साथ अपना समय व्यतीत करते हैं। यहाँ कुछ लोग संशय करते हैं कि जैसे अन्न या दूध पाकर मनुष्य उसे खाने या पीने से जीवित रहते हैं, क्या मुक्त आत्माएं भी वैसा ही करती हैं? (इसका उत्तर मंत्र के 'न अश्नन्ति' वे नहीं खाते पद से दिया गया है कि वे केवल दर्शन मात्र से तृप्त रहते हैं)।

अथ द्वितीयममृतं तदुदा उपजीवन्तीन्द्रेणा मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥ ३/७/१

पदार्थ— (अथ) इसके अनन्तर (प्रथम अमृत के वर्णन के बाद), (द्वितीयम् अमृतम्) जो दूसरा 'अमृत' है (यजुर्वेद द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म-ज्ञान), (तद् रुद्रा उपजीवन्ति) उस अमृत का रसास्वादन 'रुद्र' संज्ञक देव करते हैं। (इन्द्रेण मुखेन) इन्द्र (परम ऐश्वर्य और शक्ति) के समान तेजस्वी मुख के माध्यम से वे उस ब्रह्म का अनुभव करते हैं (न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति) निश्चय ही वे देव-स्वरूप मुक्त पुरुष न तो भौतिक अन्न खाते हैं और न ही जल पीते हैं; (एतद् एव अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति) वे केवल इसी ब्रह्म-रूपी अमृत का साक्षात्कार करके पूर्ण तृप्त रहते हैं।

विशिष्ठ अर्थ— इसके बाद प्रथम अमृत के वर्णन के उपरान्त, जो **दूसरा अमृत** है अर्थात् यजुर्वेद के ज्ञान से प्राप्त होने वाला ब्रह्म-आनंद, उसका अनुभव **'रुद्र'** संज्ञक देव ४४ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले श्रेष्ठ विद्यार्थी करते हैं। वे इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली और तेजस्वी मुख के माध्यम से ज्ञान की प्रखरता से उस मोक्ष-सुख को प्राप्त होते हैं=मोक्षदशा में सुखपूर्वक अपने दिन को बिताते हैं देवत्व को प्राप्त वे मुक्त पुरुष (रुद्र) साधारण मनुष्यों की तरह न तो भोजन करते हैं और न ही जल पीते हैं; वे केवल इस **ब्रह्म-रूपी अमृत** का साक्षात्कार (दर्शन) करके ही पूर्णतः तृप्त रहते हैं।

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

पदार्थ— (अथ) इसके अनन्तर द्वितीय अमृत के वर्णन के बाद, **(यत् तृतीयम् अमृतम्)** जो तीसरा 'अमृत' है (अर्थात् सामवेद द्वारा प्रतिपादित भक्ति और साम्य का परमानन्द), **(तद् आदित्या उपजीवन्ति)** उसका रसास्वादन 'आदित्य' संज्ञक देव करते हैं। **(वरुणेन मुखेन)** वरुण (गम्भीरता और शान्ति के अधिपति) के समान तेजस्वी और गम्भीर मुख के माध्यम से वे उस अमृत का अनुभव करते हैं।**(न वै देवा अश्नन्ति न पीबन्ति)** निश्चय ही वे देव-स्वरूप मुक्त पुरुष न तो भौतिक अन्न खाते हैं और न ही जल पीते हैं; **(एतद् एव अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति)** वे केवल इसी अमृताख्य ब्रह्म का साक्षात्कार करके पूर्ण तृप्त रहते हैं।

विशिष्ठ अर्थ— इसके अनन्त जो **तीसरा अमृत** है अर्थात् सामवेद द्वारा प्रतिपादित जो परमानन्द स्वरूप ब्रह्म हैउसको प्राप्त करके **'आदित्य'** संज्ञक ब्रह्मचारी जिन्होंने ४८ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है कृतार्थ होते हैं। ४८ वर्षों के कठोर विद्याभ्यास और तपस्या से उत्पन्न हुई जो विशेष कान्ति है, उससे इनका मुख मण्डल **'वरुण'** (गम्भीरता और न्याय के अधिपति) के समान अत्यन्त रमणीय, कमनीय और शान्त छवि वाला हो जाता है।

ये आदित्य श्रेणी के मुक्त पुरुष परमात्मा की समीपता का अनुभव करते हुए मोक्ष की अवस्था में आनन्दपूर्वक अपना समय व्यतीत करते हैं। देव पद को प्राप्त इन ब्रह्मचारियों के विषय में यह रहस्य है कि ये साधारण मनुष्यों की तरह न तो भोजन ग्रहण करते हैं और न ही जल का पान करते हैं। इनका जीवन भौतिक आहार पर निर्भर नहीं होता; बल्कि ये केवल उसी **अमृतप्रद ब्रह्म का साक्षात्कार** करके, अर्थात् उस परमात्मा के स्वरूप में मग्न होकर, सदा के लिए तृप्त और प्रसन्न रहते हैं। ऐसे ही एक और प्रकार के ब्रह्मचारी का कथन **तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ० ८/७/३** आदिक श्रुति मे आता है

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिल्लोके भवत्यनन्तवतोह लोकाञ्जयति। य एतमेवं विद्वाश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्त वानित्युपास्ते॥ ४॥ ४/६/४

पदार्थ— (**सः+यः**) सो जो कोई ब्रह्मविद् पुरुष (**ब्रह्मणः**) ब्रह्म के (**एतम्**) इस (**चतुष्कलम्**) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्ररूप चार कला वाले (**पादम्**) पाद को (**एवम्+विद्वान्**) पूर्वरूप जानता हुआ (**अनन्तवान्+इति**) अनन्तवान् समझकर (**उपास्ते**) विचारता है वह

(**अस्मिन्+लोके**) इस लोक में (**अनन्तवान्+भवति**) अनन्तवान् होता है (अनन्तवान् होने से अभिप्राय ईश्वर की अनन्त महिमा जानने से है) और (**अनन्तवतः+लोकान्+ह**) अनन्तवान् लोकों का (**जयति**) जय करता है अर्थात् मोक्ष पाता है (**यः+एतमेवम्**) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

व्याख्या— इस मन्त्र में ब्रह्म के **'अनन्तवान्'** नामक पाद (चरण) की महिमा का वर्णन किया गया है। मन्त्र का प्रारम्भ **'स यः'** पदों से होता है, जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यहाँ 'स यः' = **"वह जो कोई भी"**। इससे यह महान सत्य सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या किसी विशेष आश्रम या वर्ग तक सीमित नहीं है। चाहे व्यक्ति ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि उसके भीतर यथार्थ ज्ञान जागृत हो गया है, तो वह ब्रह्मविद् कहलाने का अधिकारी है। ज्ञान की प्राप्ति में मनुष्य की अवस्था या आश्रम बाधा नहीं बनते, बल्कि उसकी साधना और विद्वत्ता ही प्रधान है।

ऋषि यहाँ समझाते हैं कि ब्रह्म का एक चतुर्थांश (एक पाद) चार कलाओं में विभक्त है: जब ऐसा साधक ब्रह्म के इस चतुर्थांश को पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र के रूप में 'अनन्त' जानकर उसकी उपासना करता है, तो वह स्वयं संकीर्णताओं से मुक्त होकर ईश्वर की अनन्त महिमा में लीन हो जाता है। जो साधक इस रहस्य को समझ लेता है और परमात्मा को व्यापक स्वरूप में अनुभव करता है, वह स्वयं भी इस लोक में 'अनन्तवान्' हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि उस विद्वान की कीर्ति, उसका प्रभाव और उसका आत्मिक बल सीमाओं को तोड़कर अनन्त हो जाता है। वह केवल संसार के भौतिक सुखों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि अपनी विशाल दृष्टि के कारण 'अनन्त' फल देने वाले लोकों अर्थात् **मोक्ष** को प्राप्त कर लेता है।

॥ ब्रह्मण ग्रंथ और मोक्ष ॥

अब ब्रह्मचारियों के मोक्ष का कथन करते हैं देखिये गोपथ १/२६ से २९ **ब्रह्मचर्येण च एतस्मात् अथर्वाङ्गिरसः ह यः वेद सः वेद सर्वम् इति ब्राह्मणम्**=और इसलिये ब्रह्मचर्य्य के साथ निश्चल ब्रह्म के ज्ञानों [चारों वेदों] को निश्चय करके जो जानने वाला है वह सब जानता है, यह ब्राह्मण [ब्रह्म ज्ञान] है ॥ २६ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचर्य्य के साथ वेदों में देवता, ज्योति, और स्थान का विचार करके मनुष्य सब विद्याओं में निपुण होवे ॥ २६ ॥

एते त्रयःवेदाः भृगुन् अङ्गिरसः अन्तरा श्रिताः इति, अप् इति, अपां प्रकृतिः ओङ्कारेण च और यह तीनों वेद [अर्थात् कर्म उपासना ज्ञान] प्रकाशमान ज्ञान वाले [चारों वेदों] के भीतर आश्रित हैं,

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्र सर्व अमृतेन साकम्॥ [अथ० ११। ५ ४ २३] [गोपथ २/७]

पदार्थ— (**देवानाम्**) प्रकाशमान लोकों का (**परिषूतम्**) सर्वथा चलाने वाला, (**अनभ्यारूढम्**) कभी न हराया गया, (**रोचमानम्**) प्रकाशमान (**एतत्**) यह [व्यापक ब्रह्म] (**चरति**) विचरता है, (**तस्मात्**) उस [ब्रह्मचारी] से (**ज्येष्ठम्**) सर्वोत्कृष्ट (**ब्राह्मणम्**) ब्रह्म ज्ञान और (**ब्रह्म**) बुद्धिकारक धन (**जातम्**) प्रकट [होता है], (**च**) और (**सर्वे देवाः**) सब विद्वान् (**अमृतेन साकम्**) अमरपन [मोक्ष सुख] के साथ [होते हैं]

एकोकथ्यः षोडशी, अन्न वे उकथ्यं वीर्य्यं षोडश एव क उद्थ्य षोडशी=[सोलह मन्त्र वाला] है अन्न ही उक्थ्य सम्बन्ध वाला सामर्थ्य षोडश [सोलह प्रकार] है, [वे सोलह यह हैं-चार वर्ण, चार आश्रम, श्रवण मनन, निदिध्यासन=तीन कर्म, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुये का अच्छे मार्ग में-व्यय करना, और सोलहवाँ मोक्ष का अनुष्ठान-जैसा दयानन्द भाष्य यजुर्वेद ९/३४ में व्याख्यात है] **तया रूढ़वा स्वर्ग लोकम् अध्यारोहन्ति**=उस [इष्टि] के द्वारा चढ़कर स्वर्ग लोक में चढ़ते हैं॥ २०॥ [गोपथ ४/२०]

सः अग्निः देवयोनिः ऋङ्मयः, यजुर्मयः, साममयः, ब्रह्ममय, अमृतमयः, आहुतिमयः, सर्वेन्द्रियः, सम्पन्नः, यजमानः ऊर्ध्वः स्वर्ग लोकम् एति=वह अग्नि देवयोनि [समान] ऋग्वेद युक्त, यजुर्वेद युक्त, सामवेद युक्त, ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] युक्त, अमृत [मोक्ष सुख] युक्त, आहुति [दान और ग्रहण व्यापार] युक्त, सब इन्द्रियों वाला और संपत्ति वाला यजमान ऊंचा होकर स्वर्ग लोक पाता है। ४। [अब इसे ऐ० ब्रा० १। २२] से मिला के पढ़ते हैं— **सम्भवत्यृङ्मयो यजुर्मयः साममयो वेदमयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः सम्भूय देवता अप्येति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेतेन यज्ञक्रतुना यजते॥ १.२२॥**

पदार्थ— (**सः**) वह [यज्ञ करने वाला यजमान] (**सम्भवि**) इस दिव्य स्वरूप को प्राप्त होता है— (**ऋङ्मयः**) वह ऋग्वेद के ज्ञान से निर्मित, (**यजुर्मयः**) यजुर्वेद के कर्म-कौशल से

ओत-प्रोत, (**साममयः**) सामवेद की उपासना और संगीत से युक्त, (**वेदमयः**) साक्षात् वेद-स्वरूप, (**ब्रह्ममयः**) ब्रह्म (**ज्ञान**) की शक्ति से पूर्ण [तथा] (**अमृतमयः**) जन्म-मृत्यु से रहित अविनाशी स्वरूप वाला हो जाता है। (**सम्भूय**) स्वयं देव-रूप होकर (**देवता अप्येति**) वह देवताओं में ही विलीन (**एकाकार**) हो जाता है। (**य एवं वेद**) जो इस रहस्य को इस प्रकार जानता है (**यश्च एवं विद्वान**) और जो इस प्रकार का विद्वान होकर (**एतेन यज्ञक्रतुना**) इस यज्ञीय संकल्प के द्वारा (**यजते**) अनुष्ठान करता है [वही इस परम गति= मोक्ष को पाता है]।

यहाँ सायण कहता है कि— "**वेदमात्रेण शनैस्तत्प्राप्तिर्वेदनपूर्वकानुष्ठानेन तु सहसेति विशेषो द्रष्टव्यः**" अर्थात यहाँ यह विशेष बात देखने योग्य है कि केवल वेदों के ज्ञान मात्र से उस लक्ष्य की प्राप्ति धीरे-धीरे होती है किन्तु ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान (कर्म) के साथ वह प्राप्ति शीघ्रता से हो जाती है।

[गोपथ २/९] अथ यत्राह, अध्वर्यु० कि संगती [अथ०८/९/१४] से लगा के पढ़ें तब—

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयामीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः। गायत्रीं त्रिष्टुं जगतीमनुष्टुं बृहदर्की यजमानाय स्वराभरन्तीम्। [अथ०८/९/१४]

पदार्थ— (**यज्ञस्य**) यज्ञ [रसों के संयोग वियोग] के (**पक्षी**) ग्रहण करने वाले (**अग्नीषोमो**) सूर्य और चन्द्रमा [के समान] (**ऋषयः**) ऋषि लोगों ने, (**या**) जो [वेदवाणी] (**तुरिया**) वेगवती वा ब्रह्मा की [जो सत्त्व रज और तम तीन गुणों से परे चौथा है] (**आसीत्**) थी, (**यजमानाय**) यजमान के लिये (**स्वः**) मोक्ष सुख (**आभरन्तीम्**) भर देने वाली [उस] (**गायत्रीम्**) गाने योग्य, (**त्रिष्टुभम्**) [कर्म, उपासना और ज्ञान इन] तीन से पूजी गयी (**जगतीम्**) प्राप्ति योग्य, (**बृहदर्कीम्**) बड़े सत्कार वाली (**अनुष्टुभम्**) निरन्तर स्तुति योग्य [विराट् वा वेदवाणी] को (**कल्पयन्तः**) समर्थन करते हुये (**अदधुः**) धारण किया है।

सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः। आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व॥ [१/९१/१८]

हे (**सोम**) ऐश्वर्य्य को पहुँचानेवाले विद्वान् ! (**ते**) आपके जो (**वृष्ण्यानि**) पराक्रमवाले (**पयांसि**) जल वा अन्न हम लोगों को (**संयन्तु**) अच्छे प्रकार प्राप्त हों और (**अभिमातिषाहः**) जिनसे शत्रुओं को सहें वे (**वाजाः**) संग्राम (**सम्**) प्राप्त हों उनसे (**दिवि**) विद्याप्रकाश में

(**अमृताय**) मोक्ष के लिये (**आप्यायमानः**) दृढ़ बलवाले आप वा उत्तम रसके लिये दृढ़ बलकारक ओषधिगण (**उत्तमानि**) अत्यन्त श्रेष्ठ (**श्रवांसि**) वचनों वा अन्नों को (**संधिष्व**) धारण कीजिये वा करता है ॥ १८ ॥

यद गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रिष्टुभ वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत। यद् वा जगज्जगत्याहितं पंदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥ [अथर्व० ९/१०/१, ऋग्० १/६४/२३]

पदार्थ— (**यत्**) क्योंकि (**गायत्रम्**) गायत्र [स्तुति करने वालों का रक्षक ब्रह्म] (**गायत्रे**) गायत्र [स्तुति योग्य गुण] में (**अधि**) ऐश्वर्य के साथ (**आहितम्**) स्थापित है, (**वा**) और (**त्रैष्टुभम्**) श्रेष्टुभ [तीन सत्त्व, रज और तम के बन्धन वाले जगत्] को (**त्रेष्टुभात**) त्रैष्टुभ [तीन कर्म, उपासना और ज्ञान से पूजित ब्रह्म] से (**निरतक्षत**) उन्होंने [ऋषियों ने] पृथक् किया है। (**वा**) और (**यत्**) क्योंकि (**जगत्**) जगत् [जानने योग्य] (**पदम्**) पद [पाने योग्य मोक्ष पद] (**जगति**) जगत् [संसार] के भीतर (**आहितम्**) स्थापित है, (**ये इत्**) जो ही [पुरुष] (**तत्**) उस [ब्रह्म] को (**विदुः**) जानते हैं, (**ते**) उन्होंने (**अमृतत्वम्**) अमरपन (**आनशुः**) पाया है।

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मधवा या चकार। यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य [अथ० २०/८७/५, ऋग्० ७/९८/५]

पदार्थ— (**इन्द्रस्य**) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] के (**प्रथम**) पहिले और (**नूतना**) नवीन (**कृतानि**) कर्मों को, (**या**) जो (**मघत्रा**) उस महाधनी ने (**चकार**) किये हैं, (**प्र प्र वाचम्**) बहुत अच्छे प्रकार मैं कहूं। (**यदा इत्**) जब ही (**अदेवी**:) अदेवी [विद्वानों के विरुद्ध, आसुरी] (**मायाः**) मायाओं [छल कपट क्रियाओं] को (**असहिष्ट**) उसने जीत लिया है, (**अय**) तब ही (**सोमः**) सोम [अमृत रस अर्थात् मोक्ष सुख] (**अस्य**) उस [पुरुषार्थी] का (**केवलः अभवत्**) सेवनीय हुआ है।

जो राजा का मोक्ष अभीष्ट न होता सो गोपथ ५/७ में राजा के लिए ऐसा उपदेश प्राप्त न होता— **क्षत्रं वे सामो०**=राज्य ही साम [मोक्ष ज्ञान] है।

॥ शतपथ ॥

शतपथ मे ऐसा उपदेश है— जब ज्ञान के संरक्षण में जीवन की खेती की जाती है, तब विद्यार्थी उस चतुष्पदी ब्रह्म-गवी बनकर तैयार होते हैं। ये 'दिव्य अध्वर्यु' केवल कर्मकांडी नहीं, बल्कि धर्म और राष्ट्र (परमात्मा और राजा) के रक्षक हैं, जो वानप्रस्थ की गरिमा को देवलोक तक ले जाते हैं। विद्यार्थी की यात्रा 'विष्णु-क्रम' से प्रारंभ होती है, जिसका अर्थ है निरंतर प्रगति। ब्रह्मचर्य काल में विद्यार्थी उस **बाल-सूर्य** के समान होता है, जो अपनी उदयकालीन रश्मियों से अज्ञान के अंधकार को पीछे हटाता है और अपनी सरलता व तेज से सबका प्रिय बन जाता है। यहाँ वह 'गायत्री' छंद के माध्यम से पृथ्वी लोक (भौतिक और नैतिक आधार) पर विजय प्राप्त करता है। यह वह अवस्था है जहाँ वह 'ब्रह्म-गवी' (चतुष्पदी विद्या) के रूप में स्वयं को तैयार करता है। प्रथम सोपान में वह बाल-सूर्य के समान 'गायत्री' छंद (विद्या) के बल पर पृथ्वी लोक को जीतता है, द्वितीय में मध्याह्न सूर्य के समान 'त्रिष्टुप्' के तेज से अंतरिक्ष को और तृतीय में 'जगती' के माध्यम से द्युलोक को वश में करता है। इस प्रक्रिया में वह उन 'सपत्नों' (द्वेष, काम, क्रोध और अज्ञान के शत्रुओं) को अपने जीवन से बाहर निकाल देता है जो उसकी प्रगति में बाधक हैं। यह आध्यात्मिक विजय उसे एक साधारण मनुष्य से उठाकर 'देवता' की श्रेणी में खड़ा कर देती है।

जब विद्यार्थी इन तीनों लोकों के अनुभवों और विद्याओं को पार कर लेता है, तब वह उस स्थिति में पहुँचता है जिसे उक्त कंडिका में 'प्रजापति' या 'स्वर्गलोक' कहा गया है। [**प्रजापतिर्वा स स्वर्गो० = 'प्रतिष्ठा'** का अर्थ अंतिम आधार है जहाँ गति समाप्त होती है। **प्रजापति** (परम पिता) ही 'प्रतिष्ठा' है। इसकी संगति ११वी कण्डिका से लगा के पढ़ें — **'इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा'**, तो इसका आधिदैविक अर्थ यह बनता है कि जिस प्रकार इस लोक में 'पृथ्वी' हमारा आधार है, उसी प्रकार सर्वलोक में 'प्रजापति' (परम पिता) ही अंतिम आधार या **'गोद'** है।] 'परम प्रतिष्ठा' (शाश्वत आधार) है, 'परम पिता की गोद'= 'मोक्ष' की अवस्था है, जहाँ जीव समस्त सांसारिक बंधनों और दुखों से मुक्त होकर परमात्मा के असीम आनंद में विश्राम पाता है। यहाँ पहुँचकर वह 'प्रतिष्ठित' (स्थिर) हो जाता है, जहाँ अब कोई भय या अभाव शेष नहीं रहता। किन्तु, सर्व्शास्त्र सम्वत है कि मोक्ष सदा के लिए नहीं रहता। कंडिका १० का "पद परस्तात् तु एव अर्वाङ् क्रमेत"= ऊपर से पुनः नीचे की ओर आना यह मोक्ष की अवधि समाप्त होने की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी रात्रि के विश्राम के बाद अनिवार्य रूप से पुनः उदित होता है, उसी प्रकार वह

मुक्त आत्मा 'ईश्वर की इच्छानुसार' [ईश्वरीय विधान के तहत] पुनः संसार में पुनरावृत्त होती है। यह 'पुनरुदय' 'अनुशासन' (**य इतोऽनुशासनं चिकीर्षेद्**) के लिए होता है। जब वह मुक्त आत्मा उस परम पद से नीचे (पृथ्वी की ओर) कदम रखती है, तो वह 'पितृयाण मार्ग' का आश्रय लेती है। यहाँ वह एक साधारण मनुष्य का रूप धारण करके अवतरित होती है। उसका उद्देश्य 'प्रजा का कल्याण' और सत्य के अनुशासन को स्थापित करना होता है। वह समाज में रहकर, आदर्श जीवन जीकर और मानवता को मार्ग दिखाकर अपना कार्य पूर्ण करती है। अंत में, अपनी इस भूमिका को निभाकर वह पुनः उसी 'परम प्रतिष्ठा' (मोक्ष) को प्राप्त हो जाती है। यही यज्ञ का वह महान फल है, जो जीव को आवागमन के चक्र से ऊपर उठाकर ईश्वरीय योजना का एक सचेतन और दिव्य अंग बना देता है। [**द्वयं तद् यस्मात् परस्तात् अर्वाङ् क्रमते०** वह [आत्मा] दो कारणों से उस ऊँचाई से नीचे कदम रखता है पहला, **परमात्मा की इच्छानुसार फिर उदय होने के लिए**, और दूसरा, **वह पितृयाण मार्ग से आता है, साधारण मनुष्य रूप धारण करके प्रजा का कल्याण करने के लिए।]**

अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रमिति०=अग्नि रूपी दिव्य 'होता' (यज्ञ को पुकारने और सफल बनाने वाला) भली-भाँति जान ले, कि यह 'होत्र' (यज्ञ का दिव्य कर्म और उत्तरदायित्व) उसी का है। **यज्ञो वै प्रावित्रं वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह**="यज्ञ ही मोक्ष का साधन है 'यज्ञ को जाने' का तात्पर्य यही है।"

अब यदि अन्य मतों के अनुसार संन्यासी यज्ञ का त्याग करता है, तो प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि जब वह स्वयं यज्ञ नहीं करता, तब यज्ञ का शेष भाग ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ ही करेंगे। ऐसी स्थिति में यदि यज्ञ को ही मोक्ष का साधन माना गया है, तो मोक्ष का अधिकारी भी वही तीन आश्रम होंगे संन्यासी नहीं। पर यह निष्कर्ष स्वयं उस मत के भीतर विरोध उत्पन्न कर देता है। क्योंकि संन्यास को तो मोक्ष का सर्वोच्च साधन कहा जाता है, और यदि वही यज्ञ से रहित मान लिया जाए, तो उसका मोक्ष-साधन ही छिन जाता है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से सत्य यही है कि संन्यासी यज्ञ का त्याग नहीं करता, बल्कि **बाह्य यज्ञ को आत्मयज्ञ में रूपान्तरित कर देता है**। वही यज्ञ, जो पहले अग्नि में होता था, अब आत्मा में होता है। इसलिए संन्यासी भी यज्ञकर्ता है पर बाह्य नहीं, आन्तरिक रूप में। इस प्रकार यज्ञ सभी आश्रमों में विद्यमान है; भेद केवल उसके **रूप** का है, **तत्त्व** का नहीं। और जहाँ यज्ञ है, वहीं मोक्ष का मार्ग खुला है।

॥ षड्विंश ब्राह्मण ॥

यो वा एवं धुरो वेदानपजय्यमात्मने च यजमानाय च लोकं जयत्यति। यजमानमात्मानं मृत्यु परं स्वर्ग लोकं हरति॥ १५॥

पदार्थ— (**यः वै एवम्**) जो कोई भी निश्चित रूप से इस प्रकार (ब्रह्मविद्या को) जानता है, (**धुरः वेदान्**) वह वेदों के 'धुर' (मुख्य सार या आधारभूत ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है। (**अपजय्यम्**) वह कभी न पराजित होने वाले (**आत्मने च यजमानाय च लोकं जयति**) अपने लिए और यजमान के लिए उस (**ब्रह्म**) लोक को जीत लेता है। (**यजमानम् आत्मानं मृत्युं तरं स्वर्गं लोकं हरति**) वह यजमान और स्वयं को मृत्यु के पार, उस अविनाशी स्वर्ग (ब्रह्मलोक=मोक्ष) की ओर ले जाता है।

प्राचीं सन्नमत्येतद्वै विष्णोः परमं पदम्॥ १७॥

(प्राचीं सन्नमति) (जो लोग केवल बाहरी 'कायक्लेश' या 'वायुजय' में नहीं उलझते, बल्कि) अपनी बुद्धि को 'प्राची' (सामने स्थित ब्रह्म-प्रकाश की दिशा) की ओर पूरी तरह झुका देते हैं, **(एतद् वै)** क्योंकि वास्तव में यही (विवेक-पूर्ण समर्पण ही) **(विष्णोः परमं पदम्)** सर्वव्यापक परमात्मा का वह 'परम पद' (सर्वोच्च मोक्ष) है, जिससे फिर कभी पतन नहीं होता।

॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण ॥

दे॒वता॑भिरे॒वैन॑मु॒भ॒यतः॒ परि॑गृह्णाति। वि॒ष्णु॒क्र॒मान्क्र॑मते। विष्णु॑रे॒व भू॒त्वेमान् लो॒कान॒भिज॑यति॥ १।७।४।४॥

पदार्थ— (**देवताभिः एव एनम्**) इन विवेक और वैराग्य रूपी दिव्य शक्तियों के द्वारा ही वह इस जीवात्मा को (**उभयतः परिगृह्णाति**) दोनों ओर से (लोक और परलोक, अथवा जड़ और चेतन के भेद से) भली-भाँति थाम लेता है। (**विष्णुक्रमान् क्रमते**) वह साधक 'विष्णु-क्रम'=परमात्मा की व्यापकता की ओर बढ़ने वाले चरण बढ़ाता है। (**विष्णुः एव भूत्वा**) वह स्वयं साक्षात् विष्णु=व्यापक ब्रह्म के स्वरूप में स्थित होकर (**इमान् लोकान् अभिजयति**) इन समस्त लोकों अर्थात अज्ञान और दुखों के बंधनों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है।

षड्वा ऋ॒तवः॑। ऋ॒तुभि॑रे॒वैनं॑ युनक्ति। वि॒ष्णु॒क्र॒मान्क्र॑मते। विष्णु॑रे॒व भू॒त्वेमान् लो॒कान॒भिज॑यति।

पदार्थ— **(षड्वा ऋतवः)** जिस प्रकार वर्ष की छह ऋतुएँ काल-चक्र को पूर्ण करती हैं, **(ऋतुभिः एव एनं युनक्ति)** उसी प्रकार (ज्ञान और कर्म के) समस्त अनुकूल अवसरों से वह साधक स्वयं को जोड़ता है।**(विष्णुक्रमान् क्रमते)** वह अपनी चेतना में 'विष्णु-क्रम' (परमात्मा की व्यापकता की ओर बढ़ने वाले चरण) बढ़ाता है। **(विष्णुः एव भूत्व** वह स्वयं साक्षात् व्यापक ब्रह्म के स्वरूप में स्थित होकर **(इमान् लोकान् अभिजयति)** इन समस्त सांसरिक दुखों और लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

यः, क्षत्रियः प्रतिंहितः। सौंऽन्वारंभते। राष्ट्रमेव भंवति। त्रिष्टुभाऽन्वारंभते। इन्द्रियं वै त्रिष्टुक्। इन्द्रियमेव यजंमाने दधाति॥ १।७।९।२॥

पदार्थ— **(यः क्षत्रियः प्रतिहितः)** जो भी [क्षत्रिय] अपने धर्म में प्रतिष्ठित और सावधान है, **(सोऽन्वारभते)** वह जब इस आत्म-साधना का आरम्भ करता है, **(राष्ट्रम् एव भवति)** तब वह स्वयं ही 'राष्ट्र' (प्रभावी और तेजस्वी) स्वरूप हो जाता है। **(त्रिष्टुभाऽन्वारभते)** वह 'त्रिष्टुप' (शौर्य और ओज के छन्द) के समान दृढ़ होकर आरम्भ करता है।**(इन्द्रियं वै त्रिष्टुक्)** क्योंकि त्रिष्टुप ही वास्तविक इन्द्रिय-बल है। **(इन्द्रियम् एव यजमाने दधाति)** इस प्रकार वह ज्ञान उस यजमान के भीतर वास्तविक आत्म-शक्ति और इन्द्रिय-विजय स्थापित कर देता है।

जेता शत्रून् विचंर्षणिः। आकूँत्यै त्वा कामाय त्वा समृधैं त्वा। पुरो दंधे अमृतत्वायं जीवसैं। आकूंतिमस्यावंसे। कामंमस्य समृंद्ध्यै। इन्द्रंस्य युञ्जते धियः। आकूंतिं देवीं मनंसः पुरो दंधे। यज्ञस्यं माता सुहवां मे अस्तु। यदिच्छामि मनंसा सकांमः। विदेयंमेनद्धृदंये निविंष्टम्॥ २।५।३।२॥

शत्रुओं को जीतने वाले और सर्वद्रष्टा उस प्रभु को मैं अपने श्रेष्ठ संकल्प, कामना और समृद्धि के लिए धारण करता हूँ। अमृतत्व और दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए मैं उन्हें सबसे आगे (अपने हृदय में) स्थापित करता हूँ। इस यजमान के संकल्प की रक्षा और कामनाओं की पूर्णता के लिए ज्ञानी जन अपनी बुद्धियों को इन्द्र (परमात्मा) में लगाते हैं। मैं मन की दिव्य संकल्प-शक्ति को सम्मुख रखता हूँ। यज्ञ की जननी वह दैवीय शक्ति मेरे लिए सुलभ हो। मैं निष्कपट मन से जिस भी श्रेष्ठ वस्तु की इच्छा करता हूँ, हृदय में स्थित उस लक्ष्य को मैं निश्चित रूप से प्राप्त करूँ।

॥ ताण्ड्य महाब्राह्मण ॥

आदि ब्राह्मणों में इन्द्र वृत्त की कथा से सामान्य पुरुष कैसे अपने अज्ञान एवं प्रमादिता पर विजय प्राप्त कर इस संसार में सुख भोगता है, जीवन्मुक्त होता है और परलोक में विविधमुक्त होकर मोक्ष का सुख प्राप्त करता है, ऐसी अनेक कथाएं आई हैं जो कहीं और निरूपण करेंगे। अभी अंश मात्र देखिये—

प्रमाहिष्ठीयेन वा इन्द्रो वृत्राय वज प्रावर्त्तयत्तमस्तृखुत मातव्यवान्० वसीयाए आत्मना भवति०

'प्रमाहिष्ठीय' के द्वारा, निश्चय ही इन्द्र ने अज्ञान रूपी 'वृत्र' के विनाश हेतु विवेक रूपी 'वज्र' को प्रहार के लिए उठाया। उसी वज्र से उसने उस शत्रु या अज्ञान को धराशायी कर दिया। जो साधक इस ज्ञान रूपी ओज को धारण करता है, वह उस महान सामर्थ्य वाले ज्ञान के माध्यम से अपनी वाणी और प्राणों को परमात्मा में लगा देता है। वह अपने आध्यात्मिक शत्रुओं, जैसे काम और क्रोध आदि का समूल नाश कर देता है और अपनी ही आत्मा में स्थित होकर परम ऐश्वर्यशाली एवं श्रेष्ठ हो जाता है तथा मोक्श हो जाता है।

॥ जैमिनीय ब्राह्मण ॥

अत्र वै ब्रह्म न विराजत्यू अनाथम् अपरायणम्' अनुत्तरम्। तद् वे तद् अग्निहोत्रं द्वादशाहं ब्रह्म जुहुवां वकार। तद् द्वाराशाहं हुत्वा कीर्ति यशः प्रजापतिम् अमृतं तद् उदाजहार। तद् वे तद् अग्निहोत्रं द्वादशाहूं ब्रह्म हत्या। प्रजापतय प्रत्यूह्य३ स्वर्ग लोकम् अभ्युच्चक्राम॥ [२/३७]

पदार्थ— (**अत्र वै ब्रह्म न विराजति**) यदि इस जीवन में ब्रह्म (**परमात्मा का ज्ञान**) प्रकाशित नहीं होता, तो यह जीवन (**अनाथम्**) बिना किसी स्वामी के, (**अपरायणम्**) बिना किसी आश्रय के और (**अनुत्तरम्**) बिना किसी समाधान या श्रेष्ठता के रह जाता है। (**तद् वै तद् अग्निहोत्रं द्वादशाहं ब्रह्म जुहुवां चकार**) अतः उन (**ऋषियों**) ने बारह दिनों (अथवा जीवन की बारह अवस्थाओं) तक निरंतर उस 'ब्रह्म' का ही अग्निहोत्र (ज्ञान की अग्नि में आहुति) किया। (**तद् द्वादशाहं हुत्वा**) उस निरंतर ज्ञान-यज्ञ को सिद्ध करके (**कीर्तिं यशः प्रजापतिम् अमृतं तद् उदाजहार**) उन्होंने कीर्ति, यश, प्रजापति (सृष्टि का स्वामित्व) और उस 'अमृत' (मोक्ष) को प्राप्त किया। (**तद् वै तद् अग्निहोत्रं द्वादशाहं ब्रह्म हुत्वा**) इस प्रकार उस महान ब्रह्म-यज्ञ के द्वारा, (**प्रजापतये प्रत्यूह्य**) समस्त अहंकार और कर्मों को परमात्मा को सौंपकर,

(**स्वर्गं लोकम् अभ्युच्चक्राम**) वे उस सर्वोच्च स्वर्ग (परम पद/मोक्ष) की ओर ऊर्ध्वगामी हो गए।

ऋतं सत्यं वदन्तो भक्षयन्ति ऋतेन हि ते तां "सत्येनान्वविन्दन्। ऋतम्" अमृतम् इत्य् आह ऋतेन हि ते तद् अमृतम् अन्वविन्दन्॥ [२/१६०]

पदार्थ— (**ऋतं सत्यं वदन्तो भक्षयन्ति**) जो ज्ञानी पुरुष 'ऋत' और 'सत्य' [अविनाशी ब्रह्म] का ही उच्चारण करते हैं, वे ही वास्तव में उस [ब्रह्म-रस] का पान करते हैं। (**ऋतेन हि ते तां सत्येन अन्वविन्दन्**) क्योंकि उन्होंने उस सत्यस्वरूपा 'चिति' को केवल 'ऋत' और 'सत्य' के माध्यम से ही प्राप्त किया है। (**ऋतम् अमृतम् इति आह**) ऋषि कहते हैं कि 'ऋत' ही वास्तव में 'अमृत' (मोक्ष) है, (**ऋतेन हि ते तद् अमृतम् अन्वविन्दन्**) क्योंकि उसी ऋत = सत्य के आचरण और वैराग्य के द्वारा उन महापुरुषों ने उस शाश्वत अमृतत्व को प्राप्त किया है।

त ऋङ्मया यजुर्मयास्' साममया ब्रह्ममया हिरण्मया 'अमृतास् संभवन्ति'। ऋङ्मयो ह वै यजुर्मयस् साममयो ब्रह्ममयो हिरण्मयो ऽमृतस् संभवति', 'ऋङ्मयान्य् अस्यास्थानि' भवन्ति य एवं वेद। [२/२४]

पदार्थ— (**त ऋङ्मया यजुर्मयाः साममयाः**) वे साधक (जो सत्य को जानते हैं) ऋग्वेद = ज्ञान, यजुर्वेद=कर्म और सामवेद=भक्त के स्वरूप वाले हो जाते हैं, (**ब्रह्ममया हिरण्मयाः**) वे साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप और हिरण्मय (ज्योतिर्मय) होकर (**अमृताः संभवन्ति**) अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। (**ऋङ्मयो ह वै यजुर्मयः साममयो ब्रह्ममयो हिरण्मयो अमृतः संभवति**) निश्चय ही वह पुरुष जो स्वयं को ज्ञान, कर्म, उपासना और ब्रह्म-तेज से एकाकार कर लेता है, वह इसी जन्म में ज्योतिर्मय और अमर हो जाता है। (**ऋङ्मयानि अस्य अस्थीनि भवन्ति**) "उसकी अस्थियाँ भी ज्ञान (**ऋचाओं**) के समान दृढ़ और पवित्र हो जाती हैं," (**य एवं वेद**) जो इस तत्व को इस प्रकार जान लेता है।

॥ वेद और मोक्ष॥

यः माणतो निमिषतो महत्वैको राजा जगतो बसूर्य। यस्यच्छायामृतं यस्यं मृत्युः कस्मैं देवायं हविषा विधेम॥ [४/२/२]

भावार्थ— जो मनुष्य सब चेतन और अचेतन जगत् के एक स्वामी परमेश्वर की आज्ञा में चलता है, वह जीते जागते हृदय वाला पुरुष पुरुषार्थ करके अमर [यशस्वी वा मुक्त] हो जाता है और इसके विपरीत मरे मन वाला निरुत्साही मृतक सा होकर नरक भोगता है॥ २॥

येन देवाःस्व रारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्। तेने गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥ [४/११/६]

पदार्थ— (**येन**) जिस [परमात्मा] के द्वारा (**देवाः**) व्यवहारकुशल पुरुष (**शरीरम्**) नाशमान शरीर [देह अभिमान] (**हित्वा**) छोड़ कर (**अमृतस्य**) अमरपन के (**नाभिम्**) केन्द्र (**स्वः**) स्वर्ग को (**आरुरुहुः**) चढ़े थे। (**तेन**) उसी [ईश्वर] के सहारे से (**यशस्वः**) यश चाहने वाले हम लोग (**धर्मस्य**) दीप्यमान सूर्य के [समान] (**व्रतेन**) कर्म और (**तपसा**) सामर्थ्य से (**सुकृतस्य**) पुण्य के (**लोकम्**) लोक [परमात्मा] को (**गेष्म**) खोजें॥ ६॥

भावार्थ— जैसे पूर्वज महात्मा परमात्मा की भक्ति से मोक्ष सुख पाकर अमर अर्थात् कीर्तिमान हुए हैं, उसी प्रकार हम परमेश्वर की आज्ञा पाल कर संसार में उपकार करके यशस्त्री होवें, जैसे सूर्य अपने तेज से वृष्ट दान और आकर्षण आदि करके लोक का उपकार करता है॥ ६॥

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः। इन्द्रस्य त्वा भागः सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यःरक्ष [१/४]

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ [१/५]

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वुयं धूर्वामः। देवानामसि वह्नितमः सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्॥ ८॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥ ४७॥ [३/४७]

इत्यादि मंत्रो के भाष्य में ऋषि वामदेव ने कथन किया है कि परमेश्वर ने समस्त मनुष्यों के लिए नियमपूर्वक आचरण करने योग्य धर्म का उपदेश किया है, जो इस लोक और परलोक—दोनों के सुख का हेतु है। इसमें [भाष्य मे] किसी विशेष आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास] का भेद नहीं किया गया है।

यदि मोक्ष केवल संन्यासाश्रम के लिए होता, तो ऋषि अवश्य ही ऐसा भेद कहते किन्तु वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो मनुष्य न्याययुक्त, सत्यनिष्ठ, परीक्षा-सिद्ध और परोपकारी कर्म करता है, वही मोक्ष-सुख को प्राप्त होता है। ये गुण किसी एक आश्रम के बन्धन में नहीं हैं, अपितु चारों आश्रमों में सम्भव हैं। **अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि०** मंत्र में व्रत पालन की प्रतिज्ञा है। व्रत और नियम का पालन तो ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी सभी करते हैं। अतः जिस मार्ग से मोक्ष बताया गया है, वह सर्वाश्रम-साधारण है।

इसी प्रकार **अक्रन् कर्म कर्मकृतः०** मंत्र में कर्म करते हुए देवों की प्राप्ति और आनन्द की बात कही गई है। यह स्पष्ट संकेत है कि कर्म करते हुए अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। यदि कर्म ही मोक्ष का बाधक होता, तो वेद कर्मकृतः पुरुष की प्रशंसा कभी न करता। जो पुरुष आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ, विद्या, शुद्ध वाणी और परस्पर सहयोग के साथ जीवन यापन करते हैं, वे ही मोक्ष और इस लोक के सुखों को प्राप्त होते हैं। विचार योग्य बात यह है कि यह क्य क्वेल सन्यासि मात्र के लिये किया है? शेश आश्ररमवाले इस्के उलत अच्रन करे? अत: उपदेश गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी तीनों पर समान रूप से लागू होता है। भगवती श्रुति का कितना स्पस्थ कथन है देखिये—

ओ३म् सनात्सनींळा अवनींरवाता व्रता रंक्षन्ते अमृताः सहोंभिः। पुरू सहस्रा जनंयो न पत्नींर्दुवस्यन्ति स्वसांरो अह्रंयाणम् ॥ [ऋग्वेद मंडल १, सूक्त ६२, मन्त्र १०]

भगवान् दयानन्दार्थ— इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं। जैसे पति लोग अपनी स्त्रियों, बहिनों और भाइयों तथा विद्यार्थी लोग आचार्य्यों की सेवा से सुख और विद्याओं को प्राप्त होते हैं, वैसे धर्मात्मा विद्वान् स्त्री-पुरुष लोग घर में बसते हुए मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

पदार्थ— जैसे (**अवाताः**) हिंसारहित (**अवनीः**) भूमि सबकी रक्षा करती है (**पुरुसहस्रा**) बहुत हजारह (**जनयः**) उत्पन्न करनेहारे पति (**पत्नीः**) (**न**) जैसे अपनी स्त्रियों की रक्षा करते हैं, वैसे (**सनीडाः**) समीप में वर्त्तमान (**अमृताः**) नाशरहित विद्वान् लोग (**सहोभिः**) विद्या योग धर्मवालों से (**सनात्**) सनातन (**व्रता**) सत्य धर्म के आचरणों की (**रक्षन्ते**) रक्षा करते हैं, और जैसे (**स्वसारः**) बहिनें (**अह्रयाणम्**) लज्जा को अप्राप्त अपने भाई की (**दुवस्यन्ति**)

सेवा करती हैं, वैसे विद्या और धर्म ही को सेवते हैं, वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं। [महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेद-भाष्य]

इस मानव संसार में मनुष्य की आत्मा संघर्ष से खिन्न होकर अनेक बार दुःखों से मुक्ति पाने के लिये सांसारिक सम्बन्धियों पति पत्नियों, भाई बहनों से सम्बन्ध विच्छेद करने को तैयार हो जाती है। और समझती हैं कि ऐसा करने से उसे शान्ति मिलेगी। ऐसे व्यक्तियों के लिये इस वेद मंत्र में उपदेश दिया गया है कि जैसे पति पत्नी की रक्षा करता है, बहिनों और भाइयों तथा विद्यार्थी लोग आचार्य्यों की सेवा से सुख और विद्याओं को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार से विद्वान् लोग दुःख से मुक्ति पाने वाले सत्य-धर्म-विद्या आदि व्रतों की सेवा कर दुःखों से मुक्ति या छूट पाते हैं। गृहस्थ में रहते हुए, पति पत्नी और भाई बहन के सम्बन्धों को निभाते हुए भी मनुष्य आत्मा के स्वरूप को पहचान कर आत्मा की भूख को शान्त करने के लिये सत्य धर्म और विद्या का सेवन कर सकता है। आत्मिक शान्ति के लिये, सत्य भाषण , धर्माचरण और विद्या का संचय करना आवश्यक है।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्। पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नहास्वामृताय कम्॥

पदार्थ— [हे वधू !] (**आशासाना**) आशा और कामना करती हुई (**सौमनसम्**) श्रेष्ठ मन (पारस्परिक प्रेम), (**प्रजाम्**) उत्तम संतान, (**सौभाग्यम्**) सौभाग्य और (**रयिम्**) ऐश्वर्य की। (**पत्युः अनुव्रता भूत्वा**) पति के अनुकूल व्रतों वाली (**पतिव्रता**) होकर, (**सं नहास्व**) तू (यज्ञ और गृहस्थाश्रम के लिए) तैयार हो, (**अमृताय कम्**) जो अमृत (मोक्ष) और सुख की प्राप्ति के लिए है।

जो गृहस्थी का मोक्ष न होता, सो श्रुति गृहिणी को मोक्ष की प्राप्ति हो ऐसा क्यों कहा किया जाता है?

॥ केनोपनिषद् ॥

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्व हि विन्दते। आत्मना विंदते वीर्य्यं विद्यया विंदतेऽमृतम्॥ [४/१२]

पदार्थ— (प्रतिबोधविदितं मतम्) प्रत्येक बोध (ज्ञान या विचार) के साथ वह ब्रह्म जाना जाता है, ऐसा मानना ही उसे वास्तव में जानना है। **(हि अमृतात्वं विन्दते)** क्योंकि इसी बोध से मनुष्य अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है। **(आत्मना विन्दते वीर्यम्)** अपनी आत्मा

से ही वह आत्म-बल (पराक्रम) प्राप्त करता है, **(विद्यया विन्दते अमृतम्)** और विद्या (ब्रह्मज्ञान) के द्वारा वह अमृत (अविनाशी पद) को प्राप्त होता है।

इह चेदवेदीदिथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचिंत्य धीराः प्रेत्यास्मालोकादमृता भवंति॥ [५। १३]

पदार्थ— (**इह चेत् अवेदीत्**) यदि इस मनुष्य जन्म में ही उस परमात्मा को जान लिया, (**अथ सत्यम् अस्ति**) तो ही (जीवन की) सत्यता या सार्थकता है। (**न चेत् इह अवेदीत्**) और यदि यहाँ रहते हुए उसे नहीं जाना, (**महती विनष्टिः**) तो यह बहुत बड़ी हानि (विनाश) है। (**धीराः**) बुद्धिमान लोग (**भूतेषु भूतेषु विचिंत्य**) प्रत्येक प्राणी और पदार्थ में वही परमात्मा व्यापक है ऐसा (विचार) करके, (**अस्मात् लोकात् प्रेत्य**) इस देह-अभिमान वाले लोक से ऊपर उठकर [मरकर नहीं, बल्कि मोह छोड़कर], (**अमृताः भवन्ति**) अमृत=मुक्त हो जाते हैं।

भगवान व्यासजी कह्ते हैं— **अनियमः सर्वेपामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्॥** [३/३/३१]

मुनिभाष्य— मुक्ति में किमी आश्रमविशेप का नियम नहीं किन्तु प्रत्येक आश्रम में ज्ञानकर्म द्वारा मुक्ति की प्राप्ति समान है, जैसाकि [ब्र० मू०३ ।३ ।२९] के भाष्य में शब्दप्रमाण से स्पष्ट कर आये हैं, और उक्त अर्थ का साधक अनुमान इस प्रकार है कि "मुक्ति ज्ञानकर्म हेतुका साध्यत्वात् पाकवत्"=जो साध्य होता है वह ज्ञान तथा कर्म से जन्य होता है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार साध्य होने से पाक पाचक पुरुष के ज्ञान कर्म से जन्य है इसी प्रकार मुक्ति मुमुक्षु पुरुषानुष्ठित ज्ञान कर्म से जन्य है, इत्यादि अनुमान तथा शब्दप्रमाण से सिद्ध है कि मुक्ति में किसी आश्रमविशेष का नियम नहीं।

क्या केवल संन्यस आश्रम ग्रहण करने मात्र से ही मोक्ष हो जाता है?

जो लोग यह कहते हैं कि केवल संन्यास धारण करने से ही मोक्ष होता है अन्य आश्रमियों का नहीं होता, तो यह बात उचित नहीं। मोक्ष के लिए एक महान शास्त्र-विभूति चाहिए जिसका नाम है वैराग्य। यह किसी भी आश्रमी में हो सकती है। इसके कारण ही मोक्ष हो सकता है अथवा नहीं। जो ऐसा न होता तो बादरायण मुनि अपने वेदान्त शास्त्र में इस प्रकार उपदेश न करते— संन्यास से पतित हुआ पुरुष मुक्ति का अधिकारी है या नहीं ?

उत्तर— **तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः** ॥ ४० ॥

पदा०— (**तद्भूतस्य**) पतित संन्यासी के लिये (**अतद्व:**) कोई मायाश्चित्त (**न**) नहीं, क्योंकि (**नियमातद्रूपाभावेभ्यः**) श्रुति में प्रायश्चित्त विधायक नियम नहीं पायाजाता (**जैमिने**:) जैमिनि और (**अपि**) वादरायणाचार्य्य भी ऐसा ही मानते हैं।

भाष्य— जैमिनि और बादरायण आचार्य का स्पष्ट मत है कि यदि कोई व्यक्ति केवल 'आश्रम' के मोह में संन्यासी बना, किंतु उसके भीतर 'वैराग्य' और 'ब्रह्मविद्या' के गुण नहीं थे, तो वह अनिवार्य रूप से पतित होगा। ऐसा व्यक्ति जो यम-नियमों से गिर चुका है, वह केवल गेरुआ वस्त्र धारण करने से मुक्त नहीं हो सकता। उसके लिए शास्त्र में कोई ऐसा प्रायश्चित्त नहीं जो बिना वैराग्य के उसे मोक्ष दिला दे। इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष के लिए 'आश्रम' से बड़ा 'वैराग्य' है। अब उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं—

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानातदयोगात्॥ ४१॥

पदा०— (**च**) और पतित संन्यासी का (**आधिकारिकं**) मुक्ति विषयक अधिकार (**न**) सर्वथा नष्ट होजाता है, क्योंकि उसमें (**तद्योगाव**) प्रायश्चित्त की योग्यता नहीं रहती (**पतनानुमानाव**) उसके पतित होने से यह अनुमान किया जाता है।

भाष्य— यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या केवल संन्यास का त्याग करने से मुक्ति रुक जाती है? **उत्तर—** यह है कि उस व्यक्ति के भ्रष्टाचार (आचरण के गिरने) से यह अनुमान लगाया जाता है कि उसके भीतर वह 'महान शास्त्र-विभूति' (वैराग्य) कभी थी ही नहीं। उक्त सुत्र के भास्य मे पं० अर्यामुनि जी यह अनुमान देते है— "**अयं भ्रष्टाचारः संन्यासी मुक्तिं नार्हति, वैराग्यहीनत्वात्**"— जिस प्रकार कोई विषयासक्त व्यक्ति (वेश्यागामी आदि) मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता, वैसे ही वह संन्यासी भी अधिकारी नहीं है जिसके भीतर ब्रह्मज्ञान का अभाव है। इसे देखने से क्या परिणाम निकला? यही कि संन्यास से वही पतित होता है जिसमें वैराग्य और ब्रह्मविद् होने के गुण न हों। संन्यास का बाहरी चोला पहन लेने मात्र से कोई मुक्त नहीं होता यदि भीतर वैराग्य की अग्नि नहीं है।

इसके विपरीत, ये गुण (वैराग्य और ज्ञान) तो किसी भी आश्रमी में हो सकते हैं, जैसा कि कपिलजी ने महाभारत के शान्तिपर्व में उपदेश किया है। यदि एक गृहस्थ में भी पूर्ण वैराग्य और ब्रह्म का साक्षात्कार है, तो वह उस 'पतित संन्यासी' से कहीं श्रेष्ठ और मोक्ष का वास्तविक अधिकारी है। इसे देखने से क्या परिणाम निकला? यही कि संन्यास से वही पतित होता है जिसमें **वैराग्य** और **ब्रह्मविद्** होने के गुण न हों। संन्यास का बाहरी

चोला पहन लेने मात्र से कोई मुक्त नहीं होता यदि भीतर वैराग्य की अग्नि नहीं है। पुर्वोत्तर जितनी भी श्रुतिया हैं उसके अभिप्राय से यह कथन करते हैं कि

कृत्स्नाभावातु गृहिणोपमंहारः ॥ ४८ ॥

पदा०— "तु" शब्द अतिदेश के बोधनार्थ आया है (**कृत्स्नाभात्राव**) अधिकारी में उक्त साधन संगत होने के कारण (**गृहिणा, उपसंहार:**) गृहस्थ पुरुष में भी उनका उपसंहार होता है।

भाष्य— यदि कोई गृहस्थ आश्रम में रहकर अपने गृहस्थ धर्मों का पालन यथाविधि करता है, अर्थात् अपने कर्तव्य, धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक उत्तरदायित्वों का पालन करता है, और उसका मन शुद्ध है, तो उस शुद्धचित्त गृहस्थ में **ब्रह्मजिज्ञासा** उत्पन्न हो सकती है। यह ब्रह्मजिज्ञासा उसके भीतर वैराग्य और आत्मज्ञान के साधनों को उत्पन्न करती है। जब गृहस्थ व्यक्ति इन साधनों श्रवण, मनन, ध्यान और अन्य वैदिक साधनों को यथावत रूप से अपनाता है, तो उसका **उपसंहार** संन्यासी की तरह ही सिद्ध होता है। यहाँ उपसंहार से तात्पर्य है साधना के पूर्ण परिणाम और उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मोक्ष का साधन केवल संन्यास आश्रम में नहीं, बल्कि गृहस्थ आश्रम में भी उपलब्ध है। गृहस्थ व्यक्ति यदि **श्रवणादि साधनों में निपुण** और शुद्धचित्त हो, तो उसे भी संन्यासियों के समान मोक्ष का अधिकारी माना जा सकता है। सतत अभ्यास और शुद्धता के द्वारा गृहस्थ अपने संन्यासियों की तरह ही वैराग्य और ब्रह्मविद्या के गुण अर्जित कर सकता है। ऐसा मत बदरायण मुनि का है।

कतिपय लोग मनुजी और ऋषी दयानंद मोक्ष का अधिकारी केवल सन्यासी को मांते हैं ऐसी शंका करते हैं सो अब उनके मत क निरास करते हैं

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानों व्रजत्यधः॥ [मनु० ६.३५]

तीन ऋण अर्थात् ऋषि, पितृ और देवऋण इनको [दूर] करके मोक्ष के वास्ते संन्यास में चित्त प्रविष्ट करै और इन तीनों को [दूर] न करके जो संन्यास की इच्छा करता है, सो नीचे गिर पड़ता है, उसको मोक्ष नहीं प्राप्त होता, वे कौन तीन ऋण हैं-

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रानुत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ [मनु० ६.३६]

विधिवत् अर्थात् उक्त प्रकार से ब्रह्मचर्याश्रम को करके सब वेदों को पढ़ै अर्थ सहित तथा अङ्ग, उपवेद और छः शास्त्र सहित पढ़ै। फिर पढ़के यथावत् पढ़ावै, क्योंकि विद्या का लोप इस प्रकार से कभी न होगा, यह प्रथम ऋषि ऋण है, इसमें जप और संध्योपासन भी जान लेना। सब मनुष्यों के ऊपर यह परमेश्वर की आज्ञा है कि ब्रह्मचर्याश्रम से विद्याओं को पढ़ना और पढ़ाना इसके विना सब आश्रम नष्ट हैं, जैसे कि मूल के विना वृक्ष नष्ट हो जाता है। उक्त प्रकार से पुत्रों को शिक्षा धर्म की, विद्या पढ़ने और पढ़ाने की करै। अपनी कन्या अथवा अपना पुत्र विद्या के विना कभी न रहै। सब श्रेष्ठ गुणवाले होवैं, ऐसा कर्म माता-पिता को करना उचित है। और जो अपने सन्तानों को श्रेष्ठ गुणवाले न करेंगे, तो उन माता-पिताओं ने बालक को जैसा मार डाला। फिर मारना तो अच्छा, परन्तु मूर्ख रखना अच्छा नहीं। इसी में उक्त प्रकार से तर्पण और श्राद्ध भी जान लेना यह दूसरा पितृऋण है। **[तीसरा देवऋण] फिर गृहाश्रम में यथावत् अग्नि होत्रादिकों का अनुष्ठान करै, जिससे कि सब संसार का उपकार होय, इससे उसका भी बड़ा उपकार है अर्थात् पुण्य से सुख पाता है सो इन तीन ऋणों को उतार के मोक्ष अर्थात् संन्यास करने में चित्त देवैं, अन्यथा नहीं ॥ २४॥**

ऋषि ने मोक्ष का अर्थ संन्यास किया है और जो मनु ने ६/८८ में सब आश्रमियों को मोक्ष माना है, सो आश्रम की दृष्टि से और जो ऋषि ने यहाँ मोक्ष का अर्थ संन्यास किया है, सो वैराग्य की दृष्टि से है।

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यंत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ [मनु० १२। १०२] वेद शास्त्र के अर्थ का तत्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है।]

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ [मनु० [६.६०]

इन्द्रियों का निरोध [करने से] राग-द्वेष [को त्यागने से] और अहिंसा [का पालन करने से] मोक्ष का अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः। समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम्॥ ४० ॥

जिस किसी आश्रम में दोषयुक्त पुरुष भी होय, परन्तु धर्म ही को करे और सब भूतों में समबुद्धि अर्थात् राग द्वेष रहित होय, सोई पुरुष श्रेष्ठ है। जितने बाह्य चिह्न हैं यज्ञोपवीत, दंड दोनों को धारण करै और धर्म न करै, तो धारण मात्र ही से कुछ नहीं हो सकता। और तिलक, छापा, माला ये तो सब पाखण्डों के ही चिह्न हैं, इनको को तो कभी न धारना चाहिये॥ ४० ॥

सम्यक्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ [मनु० ६.७४]

जब संन्यासी सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न होता है, तब कर्मों से बद्ध नहीं होता और जो ज्ञान से हीन संन्यासी है, सो मोक्ष को तो नहीं प्राप्त होता, किन्तु संसार में ही गिर पड़ता है॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकै चैव कर्मभिः। तपसश्चरणैश्चाग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥ ४८ ॥

निर्वैर, इन्द्रियों से विषयों का असंग, वैदिक कर्म का करना, अत्यन्त उग्र तप इन्हों से मोक्ष पद कोसिद्ध लोग प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं॥

सम्यक्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ [मनु० ६.७४]

जब संन्यासी सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न होता है, तब कर्मों से बद्ध नहीं होता और जो ज्ञान से हीन संन्यासी है, सो मोक्ष को तो नहीं प्राप्त होता, किन्तु संसार में ही गिर पड़ता है॥ ४७ ॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकै चैव कर्मभिः। तपसश्चरणैश्चाग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥ ४८ ॥

निर्वैर, इन्द्रियों से विषयों का असंग, वैदिक कर्म का करना, अत्यन्त उग्र तप—इन्हों से मोक्ष पद कोसिद्ध लोग प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ इसमें संन्यासी को मोक्ष कैसे होता है वह मनु जी ने कहा आगे कोई यह न समझ ले कि केवल संन्यासी को ही मोक्ष होता तो मनु जी कहते हैं—

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च। आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी वे चारों गृहस्थाश्रम से उत्पन्न होते हैं पृथक्-पृथक्। क्योंकि गृहाश्रम न होय तो मनुष्य की उत्पत्ति ही न होय, फिर ब्रह्मचर्यादिक आश्रम कभी न होंगे। इससे उत्पत्ति तथा सब आश्रमों का अन्न, वस्त्र, स्थान और धनादिक दानों

से गृहस्थ लोग ही पालन करते हैं। इन दो बातों में गृहस्थ ही मुख्य हैं, विद्या ग्रहण में ब्रह्मचारी, तप में वानप्रस्थ, विचार योग और ज्ञान में संन्यासी श्रेष्ठ है॥

सर्वेऽपिक्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविता। यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमाङ्गतिम्॥ [मनु० ६.८८]

सब आश्रमी यथावत् शास्त्रोक्त क्रम जो धर्माचरण, उससे चलने वाले पुरुषों का, वे आश्रमों के जितने व्यवहार श्रेष्ठ हैं, उनसे सब आश्रमी लोग मोक्ष पा सकते हैं, परन्तु बाहर देखने मात्र भेद रहेगा, उनका भीतर व्यवहार संन्यासवत् एक ही होगा॥

इससे क्या पता चलता है? यह कि चारों आश्रम वालों का मोक्ष होता है लेकिन वह अपने-अपने आश्रम में श्रेष्ठ पुरुषों में बाहरी मात्र से भेद होता है, अंदर तो उन्हें संन्यास=वैराग्य ही हो जाता है। मोक्ष केवल धर्म धारण करने वालों का ही होता है। उसके बाद धर्म के १० लक्षण बताए गए हैं:-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ९१॥ इन १० लक्षणों को चारों आश्रमों के लिए कथन किया गया है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः। दश लक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ९०॥

ब्रह्मचारी आदिक सब आश्रमी दश लक्षण हैं जिस धर्म के, उस धर्म का नित्य सेवन करें॥ ९०॥ अब राजा अर्थात् गृहस्थ को मोक्ष उपदेश सुनिए—

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्। व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १३१॥

इस प्रकार से सब मनु व्यवहारों को न्यायपूर्वक जो राजा करता है, वह सब पापों से छूट के परम गति जो मोक्ष, उसको प्राप्त होता है। जिस व्यवहार को किया चाहै, उसको सम्यक् विचार के करै, जिससे कि वह कार्य पूर्ण हो जाय, अपूर्ण कभी न रहै॥ १३१॥

उक्त श्लोकों से क्या ज्ञात होता है? मोक्ष का उपदेश चारों आश्रमों को किया गया और चारों आश्रमों को मोक्ष होता है, ऐसा कथन मनु जी ने ६/८८ में किया है। लेकिन हाँ, मोक्ष वास्तव में किसके लिए आसान है? इसके लिए ऋषि दयानंद ६/८७ में कहते हैं,

“विचार, योग और ज्ञान में संन्यासी श्रेष्ठ है।” अर्थात् मोक्ष संन्यासी के लिए सहज है। इसलिए औपचारिक रूप से ऐसा कथन किया जाता है कि मोक्ष संन्यासी को ही होता है।

विषय— श्रीकृष्ण के योगेश्वरत्व का प्रतिपादन एवं रजोगुण-भ्रम का निराकरण

दुराग्रही— श्रीकृष्ण रजोगुणी थे क्योंकि वे युद्ध, राजनीति और राज्य-संचालन जैसे सांसारिक कर्मों में निरंतर लिप्त रहे। चूँकि मोक्ष केवल कर्म-संन्यास और निवृत्ति-मार्ग से सिद्ध होता है, अतः बाह्य कर्मों की अधिकता के कारण श्रीकृष्ण मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते।

सिद्धान्ती— यह मत शास्त्र की सूक्ष्म मर्यादा से अनभिज्ञता दर्शाता है। **"येन् विश्वाः परि द्विषों वृणक्तिं विन्दते वसुं"** यजुर्वेद ४/२९ स्पष्ट करता है कि जो पुरुष राग-द्वेष रहित होकर ईश्वर की आज्ञा और धर्म का पालन करता है, वह शत्रु सेना के बीच रहकर भी सुखपूर्वक 'मोक्ष-मार्ग' को प्रत्यक्ष देखता है। श्रीकृष्ण का कर्म 'स्वार्थ' के लिए नहीं, अपितु यजुर्वेद ५/५ के इस प्रमाण के अनुसार, जो पुरुष=श्रीकृष्ण राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को चारों ओर से त्याग देता है, वह 'वसु' (आत्म-ऐश्वर्य) को प्राप्त कर लेता है। वह रणभूमि की **'द्विषो'** (शत्रु सेनाओं) के बीच रहकर भी अपने **'अंतःकरण की शुद्धि'** के कारण मोक्ष-मार्ग को प्रत्यक्ष देखता है। **एवं ५/२२ द्वारा कर्म की "शुद्धि तनूनप्त्रे ओजिष्ठाय"** श्रीकृष्ण का कर्म यजुर्वेद ५/५ के अनुसार उस 'ओज' से युक्त था जो आत्मा को पतन से बचाता है। उनका उद्देश्य **"सत्त्वम् उपगेषम्"** शुद्ध सत्त्व की स्थापना था। **"रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि"** के अनुसार, उन्होंने अधर्म रूपी राक्षसों की ग्रीवा का छेदन किया। यह **'स्वार्थ'** के लिए की गई हिंसा नहीं, बल्कि **'अधर्म-विनाश'** द्वारा की गई 'परम अहिंसा' और 'सत्य की रक्षा' थी। ५/२२ के अनुसार धर्मपालन और अहिंसा (अधर्म के विनाश द्वारा सत्य की रक्षा) के लिए था। अतः बाह्य कर्मों से रजोगुण का निर्धारण करना तर्कसंगत नहीं है, यदि अंतःकरण राग-द्वेष से मुक्त हो।

पूर्वपक्ष— श्रीकृष्ण ने क्षत्रिय और राजा के रूप में युद्ध और दण्ड का विधान किया, जो योग के यम-नियमों (जैसे अहिंसा, अक्रोध) के विरुद्ध है, अतः उन्हें योगी नहीं माना जा सकता तो यह योग और राजधर्म की वैदिक मर्यादा की अज्ञानता है।

सिद्धान्ती— न्याय हेतु दण्ड देना योग का ही व्यावहारिक विस्तार है। क्योंकि [**यजुर्वेद ८/२३**] के अनुसार राजा का धर्म **"हृदयाविधः"**=धर्मात्माओं को संताप देने वाले दुष्टों को

रोकने के लिए न्याय करना है। श्रीकृष्ण ने इसी न्यायमार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने **"अहिः"**=सर्प के समान द्वेषपूर्ण क्रोध का त्याग कर केवल **"वरुणस्य पाशः"**=न्याय का वज्ररूप दण्ड अपराधियों के लिए धारण किया। श्रीकृष्ण का युद्ध इसी 'सनातन न्याय' का पालन था, जिसे करना योगी का कर्तव्य है।

[**यजुर्वेद ८/१७**] के अनुसार एक श्रेष्ठ पुरुष को **"दोषों को जीतने वाला (देवः)"** और **"अविद्या रूप अन्धकार का दाह करने वाला (अग्निः)"** होना चाहिए। श्रीकृष्ण ने उत्तम कर्मों में व्याप्त होकर **"शत्रुओं को जीतने"** का जो कार्य किया, वह गृहस्थ और राजधर्म की मर्यादा के भीतर ही था। [**यजुर्वेद ७/३९**] का यह पद **"उपयामगृहीतः"** उन्हें=योगाभ्यास से ग्रहण करने योग्य ईश्वर के आदर्श पर चलने वाला सिद्ध करता है। वे **"द्विबर्हाः"**=व्यवहार और परमार्थ दोनों के ज्ञान से युक्त थे। अतः, श्रीकृष्ण **"सुकृतः"** (श्रेष्ठ कर्म करने वाले) थे, जिन्होंने ईश्वर के सनातन न्याय का आश्रय लेकर प्रजा की रक्षा की। [**गीता २/३९**] के अनुसार जो **'बुद्ध्या युक्त'** है, वह कर्मों के बंधन में नहीं फँसता। श्रीकृष्ण का दण्ड-विधान 'क्रोध' नहीं बल्कि **"विद्वान्, इन्द्रियों को जीतने वाले और धर्मात्मा"** राजा का कर्तव्य था। इस प्रकार धर्म-युद्ध योग का बाधक नहीं, बल्कि योगी द्वारा किया गया 'सत्य-कर्म' है।

पूर्वपक्ष— श्रीकृष्ण गृहस्थाश्रम में रहे और अतुल्य ऐश्वर्य का भोग किया। गृहस्थ जीवन तो सांसारिक मोह का केंद्र है, वहाँ रहकर ब्रह्मविद्या और मोक्ष की प्राप्ति कैसे संभव है?

सिद्धान्ती— यह आक्षेप आधारहीन है क्योंकि [**यजुर्वेद ७/२८**] के अनुसार योगविद्या के बिना कोई मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण ने **"वर्चोदाः"**=योग और ब्रह्मविद्या देने वाले गुरुओं से योगबल प्राप्त किया था। उन्होंने गृहस्थ में रहकर भी **"आत्मने वर्चसे"**=आत्मा के प्रकाश को प्राप्त करने और **"ओजसे वर्चसे"**=आत्मबल के लिए योगबल को सिद्ध किया, जो यह प्रमाणित करता है कि गृहस्थ और योग परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं।

[**यजुर्वेद ८/९**] के अनुसार, गृहस्थाश्रम का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करना है। श्रीकृष्ण **"बृहस्पतिसुत"**=बड़ी वेदवाणी के पालने वाले के पुत्र (ज्ञान के उत्तराधिकारी) और **"इन्द्रियावतः"**=बहुत ऐश्वर्यवान् एवं जितेन्द्रिय पुरुष के समान थे, जिन्होंने गृहस्थ में रहकर भी **"सूर्यमुभयतो ददर्श"**=चर-अचर के आत्मा रूप परमेश्वर

को सब ओर प्रत्यक्ष देखने की स्थिति प्राप्त की थी। वे उत्तम विद्या ग्रहण करके ही गृहाश्रम में प्रविष्ट हुए थे, जिससे वे **"परमं गुहा"**=बुद्धि में स्थित सत्य विज्ञान को प्राप्त हुए।

[**यजुर्वेद ८/३१**] यह प्रमाणित करता है कि जो गृहस्थ यम-नियम और उत्तम पुरुषार्थ से युक्त है, वही **"सुगोपातमः"**=उत्तम प्रकार से वाणी और पृथ्वी की रक्षा करने वाला और सेवा के योग्य है। श्रीकृष्ण ने इसी ब्रह्मचर्य, विद्या और पुरुषार्थ के बल पर **"क्षये"**=अपने गृह एवं राज्य में दिव्य गुणों को धारण किया।

अतः श्रीकृष्ण का गृहस्थ जीवन मोह का बंधन नहीं, बल्कि **"धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष"** की चतुर्विध सिद्धि का क्षेत्र था। उन्होंने सिद्ध किया कि यदि अन्तःकरण में **"योगविद्या का सेवन निरन्तर"** [**यजुर्वेद ७/२८**] हो, तो अतुल्य ऐश्वर्य के बीच भी पुरुष 'मुक्त' ही रहता है। श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य उनके मोक्ष में बाधक नहीं, बल्कि उनके द्वारा की गई **"सत्य क्रिया"** और **"पवित्र पुरुषार्थ"** का परिणाम था। और कितने मंत्रों का उदाहरण योगीराज के जीवन हेतु दिया जाए? द्वारिकाधीश का पुरा जीवन वेदों के मंत्रों की ही तो व्याख्या है, ऐसा कहने पर कोई अतिश्योक्ति न होगी

पूर्वपक्ष— यदि श्रीकृष्ण पूर्ण योगी थे, तो उन्होंने 'कर्म' ही क्यों किए? पूर्ण ज्ञान होने पर तो कर्मों का त्याग (नैष्कर्म्य) हो जाना चाहिए था।

सिद्धान्ती— वास्तविक 'नैष्कर्म्य' कर्मों को न करना नहीं, अपितु कर्म करते हुए भी 'अकर्ता' भाव में रहना है। [**गीता ५/७**] के अनुसार शुद्ध अंतःकरण वाला योगी कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

निष्कर्ष— उपर्युक्त वैदिक और गीता के साक्ष्यों से यह सिद्ध है कि मोक्ष किसी विशेष 'आश्रम' या 'बाह्य कर्म' के त्याग पर निर्भर नहीं है, अपितु 'वैराग्य, ब्रह्मविद्या और निष्काम कर्मयोग' पर आधारित है। श्रीकृष्ण, जो गृहस्थ और क्षत्रिय होकर भी पूर्णतः जितेन्द्रिय और वीतराग थे, वे निसंदेह योगेश्वर, जनेश्वर और मोक्षार्ह थे। उन्हें रजोगुणी कहना केवल उन व्यक्तियों की 'निर्बुद्धि' और शास्त्र-अज्ञानता का परिचायक है।

श्रीकृष्णचंद्र महाराज को राजोगुणी कहने वाले के मत में तो परम योगी हैं एक “महात्मा” नामक प्रसिद्ध व्यक्ति था जो विधर्मियों द्वारा महिलाओं का बलात्कार होते देख

बोलता था कि अपनी-अपनी जीभ दांतों तले दबा के मर जाओ तुम लोग और जो उन विधर्मियों के विरोध में शस्त्र उठाते थे उनके घर-घर जाकर शांत कराता था।

यद्यपि मैं वेदों की अनेक ऋचाओं के माध्यम से श्रीकृष्ण के स्वरूप का सप्रमाण वेद मे प्रतिपादन करने में पूर्णतः समर्थ हूँ, तथापि कुल-मर्यादा के नाते पिता द्वारा स्थापित 'वेद-नित्यता' के सिद्धांतों की अवहेलना नहीं की जा सकती; क्योंकि सत्य के ज्ञान के उपरांत भी यदि मैं उनके सिद्धांतों की मर्यादा भंग करता हूँ, तो यह केवल एक मतभेद नहीं, अपितु स्वयं पिता के गौरव, उनकी शास्त्र-निष्ठा और उनकी संप्रभुता का तिरस्कार होगा। इति सिद्धम्।

भगवान कपिल अपने षष्टितंत्र मे उपदेश करते हैं कि—

राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात्। १। [षष्टितंत्र ४/१]

पदा०— (राजपुत्रवत्) राजपुत्र की भांति (**तत्त्वोपदेशात**) आत्मतत्व के उपदेश से विवेकज्ञान होता है।

जिस प्रकार रामचन्द्रजी को वसिष्ठ के उपदेश से विवेक-ज्ञान हुआ इसी प्रकार दुःखात्यन्तनिवृत्ति के हेतुभूत विवेकज्ञान की मासि गुरुकृत उपदेश द्वारा होती है।

तद्वैतद् घोर आदिरसः कृष्णाय० इत्यादि ऋषी श्रुति से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण जैसे महान क्षत्रिय ने अपने गुरु घोर अंगिरास के उपदेश से विवेक ज्ञान को प्राप्त किया और जो आपत्ति करो जो राजा का मोक्ष नहीं मानोगे तो **इंन्द्रियेणं वीर्येणद्धर्यते०**=राजा विर्य्वान=सन्यासी तेजशील कल्याणकारी हो मोक्ष भोगता है गोपथ ५/७ **क्षत्रं वे सामो०**=राज्य ही साम [मोक्ष ज्ञान] है ये मंत्र व्यर्थ हो जायेंगे।

जिसको गुरु उपदेश करता है उसी को विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है अन्य को नहीं ? उत्तर:-
पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि। २। [षष्टितंत्र ४/२]

पदा०— (पिशाचवत्) पिशाच की भांति (**अन्यार्थोपदेशे**) शिष्य के प्रति उपदेश करने पर (**अपि**) अन्य समीपस्थ पुरुष को भी विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है।

भाष्य— उसी पुरुष को विवेकज्ञान होता है जिसको गुरु उपदेश करता है परन्तु समीपवर्ती पुरुष को भी आत्मज्ञान होसकता है जैसाकि शिवजी ने पार्वती को उपदेश किया और उसके समीपस्थ पिशाच नामक भृत को भी विवेकज्ञान होगया।

अब जब तत्त्वज्ञान से पिसाच तक क मोक्ष सिद्ध है तो समधिस्थ श्रीकृष्ण जिनके लिये महाभारत मे "**तव चाद्यस्य देवस्य क्षरस्यैवाक्षरस्य च। दर्शनं त्वस्य लाभः स्यात् त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः॥** हे कृष्ण! तुम आदि पुरुष हो, दिव्य गुणों से संपन्न हो, और नश्वर एवं अविनाशी दोनों तत्त्वों के ज्ञाता हो। तुम्हारे दर्शन से महान लाभ प्राप्त होता है क्योंकि तुम ब्रह्मज्ञान के भंडार हो।" आया है उनको न होगा?

यदि अब भी कोई श्रीकृष्ण के चरित्र पर शंका करता है, तो उसे स्वयं भगवान के कथनों और ऋषियों के इन वचनों पर विचार करना चाहिए, जो उन्हें एक 'आप्त पुरुष' (सत्यवादी और निष्पाप) सिद्ध करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ [गीता ३.२१]

अर्थ— श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी के अनुसार बरतने लगता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ [गीता ३.२२]

अर्थ— हे अर्जुन! तीनों लोकों में मेरा कोई कर्तव्य नहीं है और न ही कोई ऐसी वस्तु है जो मुझे प्राप्त न हो, फिर भी मैं कर्म में ही वर्तता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ [गीता ३.२३]

अर्थ— क्योंकि यदि मैं आलस्य त्यागकर कर्म न करूँ, तो सब मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ [गीता १६.२३]

अर्थ— जो पुरुष शास्त्र की आज्ञा छोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख को और न परम गति को।

महर्षि ब्रह्मा का वचन: "**मनुष्या भिन्नमर्यादास्ते सर्वे तामसाः स्मृताः।**" **अर्थ—** धर्म की मर्यादा भंग करने वाले जो भी पापी मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणी हैं। "**सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।**" **अर्थ—** मुझमें सत्य और धर्म की निरन्तर स्थिति बनी हुई है। "ऋषि वैशम्पायन के मत मे भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण **सर्वधर्मार्थतत्त्ववित्**=श्रीकृष्ण धर्म और अर्थ के समस्त तत्त्वों को जानने वाले थे। उनके समान सर्वगुणसंपन्न, अच्युत, कूटनीतिज्ञ, योगीराज, बलवान और तत्त्ववेत्ता ना कभी हुआ, ना होगा।

तदेतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणस शितमसीति तत्रैते हे ऋचौ भवतः। [छान्दोग्य ३.१७.६]

अर्थ— अंगिरा गोत्रोत्पन्न घोर नामा ऋषि अध्ययनकाल में अपने शिष्य ब्रह्मचर्यव्रती कृष्ण से बोले कि हे कृष्ण! ब्रह्मचारी मरण काल में इन तीन पदों का उच्चारण करे कि हे परमात्मन्! आप "अविनाशी" (अक्षितमसि) हैं, हे देव! आप "एकरस रहने वाले" (अच्युतमसि) हैं, हे पिता! आप "जीवनदाता तथा अतिसूक्ष्म" (प्राणसंशितमसि) हैं। श्रीकृष्ण इस उपदेश को सुनकर अन्य सबको छोड़ एकमात्र परमात्मपरायण हो गए।

इतना बताने के बाद भी यदि कोई न माने, तो महाभारत के इस साक्ष्य को देखिये जो श्रीकृष्ण के अंतिम समय में उनकी योग-निष्ठा और मोक्ष-गमन को पूर्णतः सिद्ध करता है।

महाभारत: मौसलपर्व (अध्याय ४) से साक्ष्य: जब श्रीकृष्ण ने अपने इस भौतिक शरीर के त्याग का समय समीप समझा, तो उन्होंने किसी सामान्य मनुष्य की भाँति नहीं, अपितु एक सिद्ध योगी की भाँति व्यवहार किया।

मेने ततः संक्रमणस्य कालं ततश्चकारेन्द्रियसं निरोधम्॥ २०॥
स संनिरुद्धेन्द्रियवाङ्मनांसि शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः॥ २१॥
अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तम् पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम्॥ २३॥
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं गच्छन्नूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या॥ २४॥

अर्थ— योगीराज श्रीकृष्ण जी ने अब अपनी मृत्यु का समय समीप समझा, अतः उन्होंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रिय वृत्तियों का निरोध किया। अपने मन, वाणी और इन्द्रियों का पूर्ण

निरोध करके 'महायोग' अर्थात् समाधि का आश्रय लेकर वे भूमि पर लेट गए। जब जरा नामक व्याध ने उन्हें मृग समझकर बाण चलाया, तब भी श्रीकृष्ण की स्थिति विचलित नहीं हुई। व्याध ने जब समीप आकर देखा, तो उसे वहां कोई सामान्य क्षत्रिय नहीं, बल्कि उसने योग में स्थित, पीताम्बर धारी और महान पराक्रमी (अनेकबाहु) पुरुष को देखा। उस महात्मा श्रीकृष्ण ने अपराधी व्याध को आश्वासन दिया और अपनी कीर्ति (यश) से पृथ्वी और आकाश को व्याप्त करते हुए ऊर्ध्वलोक अर्थात् 'मोक्ष' को गमन किया।

मोक्ष केवल योगी का ही होता है, किसी साधारण कर्म-बंधी पुरुष का नहीं। इसीलिए महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में उन्हें "योगेश्वर" (**यत्र योगेश्वरः कृष्णो**) कहकर संबोधित किया। यदि वे केवल एक रजोगुणी राजा होते, तो मृत्यु के समय समाधि (महायोग) का आश्रय नहीं ले पाते। बाण लगने के बाद भी व्याध को आश्वासन देना उनके पूर्ण 'वैर-त्याग' और 'स्थितप्रज्ञता' का प्रमाण है। जो लोग श्रीकृष्ण को केवल एक संसारी पुरुष मानते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि क्या कोई साधारण रागी पुरुष मृत्यु के क्षणों में अपनी समस्त इन्द्रियों का इस प्रकार निरोध कर सकता है? वे गृहस्थी होते हुए भी महर्षि व्यास की भाँति 'मुनि' थे, जैसाकि "**मुनीनामप्यहं व्यासः**" [गी० १० । ३७]= हे अर्जुन ! मनन करने वाले पुरुषों के मध्य व्यास मेरा रूप है, इसादि वाक्यों से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण ग्रहस्थी होते हुए भी व्यासजी आदिको के भांति मुनि=मनन करने वाले थे। इसी प्रकार श्रीरामचंद्र जी का भी मोक्ष सिद्ध है

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी॥ ८॥

इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न, राम नाम से लोगों में विख्यात, श्रीरामचन्द्र नियतस्वभाव (मन को वश में रखनेवाले) अतिबलवान्, तेजस्वी, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं।

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥ १२॥

वे धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, परोपकारी, कीर्तियुक्त, ज्ञाननिष्ठ, पवित्र, जितेन्द्रिय और समाधि लगानेवाले हैं। यदि कोई यह कहे कि अन्तिम समय में श्रीकृष्ण की मृत्यु शिकारी के तीर लगने से हुई, इसलिए उनका मोक्ष नहीं हो सकता, तो इसका उत्तर इस प्रकार है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुर् अहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेर्,
मीमांसा-कृतम् उन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दो-ज्ञान-निधिं जघान मकरो वेला-तटे पिङ्गलम्।

अर्थात् व्याकरण के महान आचार्य पाणिनि को सिंह ने मार डाला, मीमांसा शास्त्र के प्रवर्तक जैमिनि को हाथी ने कुचल दिया, और छन्दशास्त्र के आचार्य पिंगलाचार्य को समुद्र-तट पर मगरमच्छ ने निगल लिया। यदि कोई यह माने कि इन महापुरुषों की मृत्यु इस प्रकार हुई, इसलिए इन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ, तो फिर उनके द्वारा रचित शास्त्रों में जो मोक्ष-तत्त्व का प्रतिपादन है, वह भी असिद्ध हो जाएगा। क्योंकि जिन्होंने मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किया, यदि उन्हीं का मोक्ष न माना जाए, तो फिर इस संसार में किसका मोक्ष संभव होगा? इसी प्रकार श्रीकृष्ण की मृत्यु को भी समझना चाहिए। यद्यपि उनके देहावसान का कारण एक शिकारी का तीर बताया जाता है, तथापि इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई।

आप्तपुरुष-कृष्णस्य, ये कुर्वन्ति विगर्हणम्।
मोक्षं नैव प्रपद्यन्ते, नरास्ते नरकाङ्गणाः॥
पण्डितंमन्या ये मन्दः समाज-मध्य-वर्तिनः।
धर्म-व्याजेन पापिष्ठाः पतनं तेषां निश्चितम्॥

जो लोग श्री कृष्ण जैसे आप्तपुरुष (सत्यवक्ता और पवित्र महापुरुष) की निंदा [अपमान] करते हैं, उन्हें कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता; ऐसे लोग नरकगामी (पतन की ओर जाने वाले) होते हैं। जो मंदबुद्धि स्वयं को विद्वान [पंडित] मानकर समाज के बीच प्रतिष्ठित बने फिरते हैं, परन्तु धर्म के बहाने पापपूर्ण [श्री कृष्ण का मोक्ष न स्विकार करना] कार्यों में लिप्त हैं, उनका पतन निश्चित है।

[इस लेख में आदरणीय विद्यालंकार जी, शिव जी एवं क्षेमकरण जी आदि विद्वानों के उचित भाष्यों से सहायता ली गई है।]

॥ इति मोक्षनिर्णय ॥

॥ बृहदारण्यकोपनिषच्छैवभाष्यम् ॥

(अश्वशब्दवाच्यसंसाराध्ययनम्)

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चतुर्वातः प्राणोव्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य॥ (क)

अनुवाद— निश्चय, इस विज्ञातव्य (विशेषरूप से जानने योग्य) संसार का शिर उषा, नेत्र सूर्य, प्राण वायु, मुख वैश्वानर अग्नि है। इस विज्ञातव्य संसार का शरीर सम्वत्सर (वर्ष) है (क)

पदार्थ— (**वै**) निश्चय, इसमें सन्देह नहीं (**मेध्यस्य१**) अच्छे प्रकार जानने योग्य (**अश्वस्य**) संसार का (**शिरः**) शिर (**उषाः**) प्रातःकाल है (**चक्षुः**) नेत्र (**सूर्यः**) सूर्य है (**प्राणः**) जीवन (**वायुः**) बाह्य वायु है (**व्यात्तम्**) खुला हुआ मुख (**वैश्वानरः+अग्निः**) विद्युत् नाम का अग्नि है (**मेध्यस्य+अश्वस्य**) जानने योग्य संसार का (**आत्मा**) शरीर (**संवत्सरः**) वर्ष है। (**क**)

[**टिप्पणी१—** वैदिक और लौकिक संस्कृत शब्दों में अर्थ का बहुत अन्तर होगया है। अतः वैदिक ग्रन्थों का आज बहुत कठिन और कुछ असङ्गतसा अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकरण में "समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः" यहां सब विद्वान् समुद्र शब्द का अर्थ ईश्वर ही करते। परन्तु पुराणों ने जलराशि समुद्र से घोड़े की उत्पत्ति मान ऐसे-२ स्थान में भी समुद्र शब्द का अर्थ प्रसिद्ध समुद्र (जल-समूह-स्थान) ही कर रक्खा है।]

भाष्यम्— कोऽयं मेध्योऽश्वो यस्योषाः शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राण इत्यादीन्यलौकिकानि विशेषरणानि दृश्यन्ते ? अत्राश्वशब्देनेदं सम्पूर्ण जगल्लक्ष्यते। यथाश्वः पशुष्वातवेगवांस्तथाऽयं संसारो रयातिशयेन सम्यक् सरन् वर्तते। अत एवास्य संसारो जगदित्यादीनि नामधेयानि। यः संसरति स संसारः। यद्भृशं गच्छति नैरन्तर्येण याति तज्जगत्। अनारम्भणे यदि न भ्राम्येत्तर्हिक तिष्ठेत्। ग्रहाणां प्रत्यक्षेण भ्रमिदर्शनादियं पृथिव्यपि भ्रमतीति कः सन्देहः। तथाच यथाऽश्वः स्वपृष्ठेन मनुष्यं वहति तथेयं पृथिवी स्वपृष्ठे सर्वान् पदार्थान् स्थापयित्वाऽतिरंहसा धावन्ती वर्तते। अन्येषामपि चन्द्रादिलोकानामीदृशी व्यवस्था। इत्थं समष्टिबुद्धया वहनाद् गमनाच्चायं सम्पूर्णः संसार एकोऽश्वः। व्यष्टिबुद्धया पृथिव्यादिरेकैको लोकोऽश्वः। यद्वा एक एव शब्दः क्वचिरूढ़ इव कचिद्यौगिक इव प्रयुज्यते छागेऽजशब्दो रूढ़ः परमात्मादिषु यौगिको न जायते इति

धात्वर्थशक्तेः। एवमेवाश्वशब्दो हये रूढ़ः संसारार्थे यौगिको व्युत्पत्तेस्तदर्थावगमात्। तथाहि अशूव्याप्तौ संघाते च अश्नुते व्याप्नोतीत्यश्वः। संसारस्येयत्तां परिच्छेत्तुं नालं मानुषी बुद्धिः। अतोऽस्माकं दृष्ट्याऽस्य व्यापकतैव न हयस्य। बहुषु पशुषु मध्ये तु स्वगुणेनास्यापि काचिद् व्यापकतास्त्येव। सर्वे शब्दा यौगिका नतु खड़ा इत्यपिराद्धान्त आचार्याणाम्। अश भोजनेऽपि वर्तते। बहुभोजनोऽश्वो भवति। अनेकार्था धातव इत्यपि सार्वजनीनः पक्षः। स्वयमेव वेदोऽश्वशब्दस्य संसारवाचकत्वं ब्रूते। तद्यथा—

"**अश्वस्यात्र जनिमाऽस्य च स्वर्द्रुहो रिषः संपृचः पाहि सूरीन्। आमासु पूर्षु परोऽअप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि**"॥ [ऋ० २। ३५। ६]

अत्रास्मिन् परमात्मनि परमात्मनो व्यापकतायाम् अस्य परितो दृश्यमानस्य अश्वस्य संसारस्य जनिम जन्मास्ति। च पुनः स्वः सुखस्यापि जन्मास्ति तत्रैव। इत्यादि। भाषया विस्तरेणोपपादितं द्रष्टव्यम्॥

अथ कण्डिकार्थः— मेध्यस्य संगमनीयस्य सम्यग् विज्ञातव्यस्य। "**मेधृ संगमे च**" अश्वस्य शिर उत्तमाङ्गम् "**उत्तमाङ्गं शिरः शीर्ष मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्**" उषा अस्ति प्रसिद्धो ब्राह्ममुहूर्तः उषाः प्रभातकाल इत्यर्थः वै निश्चयार्थकः। "**स्युरेवं तु पुनर्वैवेत्यवधारणवाचकाः**" अस्याश्वस्योषाः शिरोऽस्तीत्यवधारणीयमित्यर्थः। "**उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः**" निरु० "**उषा वष्टेः कान्तिकर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका०**" [निरु० १२। ५] "**वष्टे र्वोच्छते र्वा**" इति देवराजः। वश कान्तौ, उच्छी०निवासे। निवासः समाप्तिः। या उच्छति शार्वरं तमो विवासपति समापयति विनाशयति सोषाः। यद्वा उश्यते काम्यते या सा उषा इति व्युत्पत्तिः। वेदेषु भूयसीभिर्ऋग्भिरुषाः प्रशस्यते। "**एषा दिवो दुहिता**" "**अभ्रातेव पुंसः**" "**कन्येवतन्वा शासदाना**" इत्येवंविधाभिः। नह्यनित्यानि वस्तूनि वेदाः प्रस्तुवन्ति। अतः प्राकृत पदार्थवर्णनद्वारा सर्वे मनुष्य व्यवहारा विविधाभिर्ऋग्भिरुपदिष्टाः सन्ति। अत्र सम्मानपुरःसरं स्त्रीभिः पतयः शुश्रूषणीयाः। पित्राद्यभावे स्वयमेव वरणीयाश्च। इत्यादि। अत्रोपनिषद्युषसो जगच्छिरस्त्वमाह। कथमेतत्। अनङ्गेऽस्मिन् संसारे कथमङ्गकल्पना। किं तया च प्रयोजनं पश्यन्त्यूषयः ? **समाधानम्—** संसाराध्ययनार्थमेव मनुष्याणां सुबोधायानङ्गेऽप्यङ्गानि रूप्यन्ते। यदा परमात्मनो निरवयवस्याप्यङ्गानि "**यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनरर्णवः**" इत्येवंविधैर्मन्त्रैः शिक्षायै रूप्यन्ते तर्हि का कथाऽन्येषाम्। भूयो भूयो विचार्याणामिदं रूपकं गूढार्थ सौन्दर्यातिशयञ्च प्रकाशयिष्यति। तच्चाध्ययनं कदारब्धव्यमिति जिज्ञासायां प्रभातादारभ्याऽऽशयनकालादेकैकः पदार्थ अध्येतव्यः।

अध्ययने चावयवेषु प्राधान्येन शिरसः कालेषूपसश्च साहाय्यकमित्युभयार्थद्योतनायोषसः शिरस्त्वं। यथा बाल्ये शिरसि किञ्चिदिव प्रकाशः। ततो मन्दं मन्दं ज्ञानप्रकाशः समायाति। एवमेवोषसि सूर्यस्य किञ्चित् प्रकाशः। ततः सैवोषाः सरयू-सूर्या-प्रभृति नामधेयं बिभर्ति। अयमाशयः। सैव सूर्य प्रभामधिकामधिकां गृह्णाना दिवसत्वेन परिणमते। इतोऽपि तयोः साम्पम्। अधिकं भाषायां द्रष्टव्यम्॥

सूर्यश्चक्षुरिति। सूर्यः चक्षुषः साधनमित्यर्थः। साध्यसाधनाऽभेदविवक्षयैषोक्तिः। अतएव "**चक्षोः सूर्योऽजायत**" चक्षुषो निमित्ताय सूर्योत्पत्ति वेदा आमनन्ति। अत्र निमित्तार्थे पञ्चमी। दृश्यते च रात्रौ प्रायसो न केऽपि जीवाः पश्यन्ति सूर्याभावात्। यत्तु चन्द्रिकायां पदार्थदर्शनम्। तदपि सूर्यस्यैव ज्योतींषि चन्द्रे प्रतिफल्य प्रकाशयन्तीति कारणम्। अन्यानि यानि प्रदीपविद्युदादीनि ज्योतींषि सन्ति येषां साहाय्येन नेत्रेषु प्रकाशागमनम्। तेषामुपलक्षणेन सूर्येऽन्तर्भावः। सूर्यशब्देन सर्वाणि ज्योतिष्मन्ति वस्तून्युपक्ष्यन्ते। उषसः कारणमपि सूर्य एव। अत उषोऽध्ययनानन्तरं सूर्यतत्त्वावगमस्यावश्यकत्वात्सूर्योपादानम्। शिरसीन्द्रियाणां चक्षुष इव जगति पृथिव्यादीनां सूर्यस्य श्रैष्ठयमिति तयोस्तुल्यता।

वातः प्राण इति अस्य समस्तस्य जगतः प्राणो वातो बाह्यो वायुरस्ति। सत्यपि सूर्ये वायुना विना प्राणिनो जीवितुं न शक्नुवन्ति। अयमेव बाह्यो वायू रूपान्तरं प्राप्य सर्वान् जीवयतीति गम्यते। चक्षुरादीनामिन्द्रियाणामपि वायुरेवोज्जीवकः। अत उपनिषत्सु सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणनाम्नैकेनाभिधीयन्ते। अतो नेत्रानन्तरं तत्सहायकस्य प्राणस्यावबोध उचितः। व्यात्तमग्निर्वैश्वानर इति। अस्याश्वस्य व्यात्तं विवृतं मुखं वैश्वानरोऽग्निः "**विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा**" इति यास्कः। विश्वान् सर्वान् नरान् नरोपलक्षितान् पदार्थान् नयति परस्परं प्रापयति स्वस्वावस्थां वा प्रापयतीति वैश्वानरः। यद्वा नृ नये। विश्वं सर्वं वस्तु आनृणाति समन्ताद्भावेन प्रापयतीति विश्वानरः स एव वैश्वानरः। विद्युदाख्योऽग्निरिह वैश्वानरः। पदार्थाध्ययनेनेदं विज्ञायते यदाग्नेयपदार्थानां समूह एष संसारः। सर्वेषु पदार्थेष्वनुगता एका वैद्युती शक्तिरस्ति। या पदार्थान् चालयति। यद्वा सर्वपदार्थाधारः सैव। ये परमाणव उच्यन्ते। तेऽपि आग्नेय पदार्थानां भागानर्हा अंशा एव। एकोऽपि परमाणुस्तां विना न स्थातुं शक्नोति। अद्भुतशक्तिशाली वैश्वानराख्योऽग्निरुत्पादितः कुतूहलिना परमात्मना। यथा मुखसाहाय्येनाभ्यन्तरं प्राप्य सर्वे खाद्यपदार्थाः शरीरं पुष्णन्ति एवमेव वैश्वानराग्निसामार्थ्येन सर्वे पदार्थाः स्वात्मानं पुष्णन्ति। यद्यप्ययमविनाशी तथापि

केनापि कारणेन शक्तयन्तरैराक्रम्यमाणोर्न्तलीयते। तदैव मृत्युर्भवति प्राणिनाम्। वेदास्तु बहुलैर्मन्त्रैवैश्वानराग्नि प्रकाशयन्ति **"स रोचयज्जनुषा"** इत्येषग् द्रष्टव्या।

सम्वत्सर आत्मेति। आत्मा शरीरम्। सम्वत्सरशब्दस्तु सद्दशकालप्रवाहद्योतकः। यथा दिवसादनन्तरं रात्रिः। रात्रेःपश्चादिवसः। पुनः पुनः स एव चैत्रः स एव वैशाखः। स एव वसन्तादय ऋतवः। तथा बहुकालादनन्तरमस्य मलयो भवति पुनश्च समान एव संसारो जायते। पुनश्च प्रलयः पुनरुत्पत्तिरितिचक्रवद्भ्रमिः। एकैकः प्रलयावाधः कालोऽस्यजगत एकैकं शरीरं वेद्यम्। अश्वस्य मेध्यस्य संगमनीयस्य सम्यग् विज्ञातव्यस्याश्वस्य संसारस्याऽत्मा संवत्सरोऽस्ति। अश्वस्यमेध्यस्येति पुनरुपादानं प्रत्येकसम्बन्धार्थम् (क)

भाष्याशय— उषा "**उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः**" यास्काचार्य कहते हैं कि रात्रि के अपरकाल का नाम उषा है और अन्धकार को दूर करने से यह नाम हुआ है आज कल प्रभात समय को उषा और ब्राह्म मुहूर्त भी कहते हैं। वेदों में उषा का बहुत वर्णन आया है दो एक उदाहरण यहां लिखते हैं—

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्। ऋतस्य पन्था मन्वेति साधु प्रजानतीवन दिशो मिनाति॥ [ऋ० १। १२४। ३]

(**ज्योतिः+वसाना**) प्रकाशरूप वस्त्र को धारण करती हुई (**दिवः+दुहिता**) द्युलोक की कन्या (**एषा**) यह उषा प्रातर्वेलारूपा देवी (**समना**) समान=तुल्य ही अर्थात् अन्य दिन के समान ही (**पुरस्तात्**) पूर्व दिशा में (**प्रत्यदर्शि**) देख पड़ती है (**प्रजानती+इव**) जानती हुई स्त्री के समान यह (**ऋतस्य**) सूर्य के (**पन्थाम्**) मार्ग के (**साधु+अन्वेति**) पीछे-पीछे अच्छी तरह से जा रही है। इस प्रकार जाती हुई (**दिशः+न+मिनाति**) दिशाओं को नहीं भूलती है।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुमित्र सनये धनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ [ऋ० १। १२४। ७]

प्रथम दृष्टान्त (**इव**) जैसे (**अभ्राता**) उचितवस्त्रादि से पालन करने हारे भ्राताओं से रहिता कन्या (**प्रतीची**) विमुखी वा प्रत्याशारहिता हो (**पुंसः+एति**) अपने सम्बन्धिक चाचा आदि के निकट (**धनानाम्**) धनों की (**सनये**) प्राप्ति के लिये (**एति**) जाती है अथवा (**अभ्राता+इव**) जैसे भ्रात्रिरहिता कन्या (**पुंसः**) विवाह करके किसी पुरुष के निकट प्राप्त होती। द्वितीय दृष्टान्त (**इव**) जैसे विधवा स्त्री (**प्रतीची**) दुष्ट सम्बन्धिकों के कारण स्वामी के धन को न पाकर विमुखी हो (धनानां सनये) धन के लाभ के लिये (**गर्ताक्**) गर्त=न्यायालय को न्याय

के लिये (**एति**) जाती है। तृतीय दृष्टान्त (**इव जाया**) और जैसे पतिव्रता स्त्री (**उशती**) इच्छा करती हुई (**सुवासाः**) सुन्दर वस्त्रों से सुभूषिता हो (**हस्रा+इव**) और किञ्चित् मुसुकुराती हुई (**पत्ये**) पति के निकट (**अप्सः**) अपने रूप को (**निरिणीते**) अच्छे प्रकार प्रकाशित करती है। (**उषाः**) यह उषा देवी अर्थात् प्रातर्वेला, भ्रातृहीना कन्या के समान पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा को जा रही है और मानो अधिकार के लाभार्थ आकाशरूप न्यायालय को चढ़ रही है और पतिव्रता स्त्री के समान अपने सुन्दर समय को प्रकाशित करती है।

कन्येव तन्वा शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमारणम्। संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादा विर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥ [ऋ० १। १२३। १०]

(**इव**) जैसे (**कन्या**) कमनीया सुन्दरी प्रगल्भा स्त्री (**तन्वा**) शरीर से (**शाशदाना**) शोभायमाना होती हुई (**इयक्षमाणम्**) सेवा करने की इच्छा वाले (**देवम्**) अपने पति के निकट जाती है और जैसे (**युवतिः**) यौवनावस्थासंपन्ना स्त्री (**संस्मयमाना**) किञ्चित्किञ्चित् हंसती हुई (**विभाती**) अतएव प्रकाशमाना हो (**वक्षांसि**) अपने अवयवों को अपने पति के समीप (**आविष् कृणुते**) प्रकाशित करती है। इन्हीं दृष्टान्तों के समान (**देवि**) हे उषा देवि ! तू अपने सुन्दर शरीर से सुशोभिता होती हुई (**देवम्**) प्रत्येक जीव के निकट (**एषि**) उपस्थित होती है और मानो हंसती हुई (**पुरस्तात्**) पूर्वदिशा में (**विभाती**) प्रकाशिता होती हुई (**वक्षांसि**) सम्पूर्ण रूप को (**आविष्+कृणुषे**) दिखला रही है।

वेदों में इस प्रकार उषा की प्रशंसा बहुत आई है और इस वर्णन से यह विस्पष्टतया बोध होता है कि प्रातर्वेला का नाम उषा है। इन पूर्वोक्त वैदिक मन्त्रों से अन्यान्य बहुतसी शिक्षाएं भी प्राप्त होती हैं, वेदों में अनित्य वस्तुओं का वर्णन नहीं इस हेतु प्राकृतिक वस्तुओं के द्वारा ही मनुष्य के सब व्यवहार अनेक प्रकार से दिखालाये गये हैं। यहां स्त्रियों को पति के साथ सद्व्यवहार करना और यदि कन्या के भाई आदि सम्बन्धिक न होवें तो स्वयं पति को वरण कर लेना आदि विषय सूचित किये गये हैं।

१—उपनिषद् में उषा को अश्वरूप सृष्टि का शिर कहते हैं यह रूपक अति सुन्दर प्रतीत होता है। हमने अवपातनिका में कहा है कि जगद्रूप ग्रन्थ के अध्ययन के लिये ही मनुष्यजीवन है। **प्रश्न**—वह अध्ययन कब से प्रारम्भ होना चाहिये। **उत्तर**—जब से मनुष्य सोकर जागता है तब से लेकर शयनकाल पर्य्यन्त एक-२ पदार्थ अध्येतव्य होगा और विशेष कर अध्ययन में शिर से ही सहायता ली जाती है इस हेतु अध्ययन की प्रारम्भावस्था को

सूचित करते हुए ऋषियों ने उषा को शिर कहा है। २—जैसे शिर में प्रकाश और अप्रकाश दोनों होता है क्योंकि बाल्यावस्था में किञ्चित् प्रकाश तदनन्तर धीरे-२ ज्ञानरूप प्रकाश आता जाता है वैसा ही प्रथम उषा अप्रकाश रूप में रहती है ज्यों-२ सूर्य का प्रकाश होता जाता है त्यों-२ उषा की ज्योति बढ़ती जाती है। वही उषा "**सरण्यू**" "**सूर्या**" आदि नाम धारण करती जाती है इसी प्रकार विवेकरूप सूर्य से शिरोरूप उषा जितनी प्रज्वलित होगी उतनी ही शोभा को प्राप्त होती जायगी। इस हेतु यहां उषा और शिर की समानता है। ३—जब यह ब्रह्माण्ड सर्वथा अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत था तब इसके विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते थे जब वेद के द्वारा ज्ञान का प्रकाश कुछ-२ होने लगा तब से ही जानना आरम्भ किया। अत: यहां उषा शब्द सृष्टि के ज्ञानाज्ञान दोनों अवस्थाओं का सूचक है। इस हेतु यह सूचित हुआ कि जब से इस ब्रह्माण्ड का ज्ञानरूप सूर्य्य से प्रकाश होने लगा है तब से इसको जान सकते हैं उसके पहिले की बात नहीं, इस हेतु उषा शब्द का प्रयोग है। ४—अथवा जब से इस ब्रह्माण्ड ने किञ्चित्-२ प्रकाशस्वरूप अवयव को धारण किया है तब से इसको जान सकते हैं उसके पूर्व नहीं क्योंकि मनुजी कहते हैं—

आसीदिदं तमोभूत ममज्ञात मलक्षणम्। अप्रतर्क्स मविज्ञेयं प्रसुप्त मिव सर्वतः॥

अर्थात् सृष्टि की व्यवस्था के प्रथम क्या था कैसी अवस्था थी इसका वर्णन नहीं हो सकता। अतः प्रकाशाप्रकाशस्वरूप उषा ही अर्थात् सृष्टि की आद्यावस्था ही शिर अर्थात् अध्ययन का उत्तम साधन (कारण) है अर्थात् जो कोई सृष्टिविद्या का अध्ययन करना चाहता है उसे उचित है कि सृष्टि की उषावस्था को अपना प्रथम साधन बनावे और वहां से अध्ययन करता हुआ आज तक विद्या के विषय में जितने परिवर्तन वा संयोग वियोग हुए हैं सब जाने तब ही वह शिरवाला कहलावेगा। यास्काचार्य्यादिक "**उषा**" शब्द को दो धातुओं से निष्पन्न मानते हैं "**उषा वष्टेः कान्तिकर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका**" [निरुक्त १२। ५] "**उषा वष्टेर्वोच्छतेर्वा इति देवराजयज्वा**" अर्थात् "**वश कान्तौ, उच्छी विवासे। विवासः समाप्तिः**"। इच्छार्थक वश और समाप्त्यर्थक उच्छ इन धातुओं से "**उषा**" शब्द बनता है। जिसकी कामना सब कोई करे वा जो अन्धकार को समाप्त करदे उसे "**उषा**" कहते हैं। प्रायः सब जीव प्रभात की कामना करते हैं इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। जैसे स्वभावतः प्रभातवेला को सब ही चाहते हैं और वह अन्धकार को विनाश करता है इसी प्रकार शिर की कामना

करनी चाहिये शिर को अपनी अवस्था में ले आना ही शिर की कामना है। सर्व विद्यारूप प्रकाशों से शिर को पूर्ण प्रकाशित करे। जिस देश में शिर का आदर नहीं वा जहां के लोग शिर को नहीं बनाते वा न शिर का परवाह करते हैं वहां के मनुष्य पशु माने जाते और अन्त में देश की दशा भी पशुवत् हो जाती इस हेतु उषा से शिर की तुलना की गई है। विशेष कर अब गृहस्थाश्रम छोड़ कर वानप्रस्थाश्रम और सन्न्यासाश्रम में जाना है। इनमें सूक्ष्म-२ विद्याओं के बोध के लिये प्रथम शिर की ही आवश्यकता होगी। अतः ऋषि कहते हैं कि आश्रमियो ! उषा के समान शिर की भी कामना करो ! यहां यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उपनिषद् का अध्ययन विशेषकर अरण्य में हुआ करता था। जिन्होंने ब्रह्मचर्य में सम्पूर्ण विद्याएं पढ़ी हैं। गृहाश्रम में कुछ मनन और उनके प्रयोग किये हैं। अब तृतीय और चतुर्थ आश्रम में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का जानना और निदिध्यासन द्वारा उन्हें प्रकाश कर कुछ चिन्ह छोड़ जाना ही अवशिष्ट रहा है। इसलिये कतिपय अनुभूत मार्ग दिखलाये जाते हैं। जिनसे पदार्थाध्ययन में सुगमता होवे।

अश्व— यहां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वा प्रधान (प्रकृति) का नाम अश्व है यद्यपि लोक में पशुवाचक अश्व शब्द प्रसिद्ध है तथापि वेदों में यह अनेकार्थक प्रयुक्त हुआ है और यहां अश्व शब्द के प्रयोग करने से अनेक आशय हैं। (१) जैसे अश्व (घोड़ा) मनुष्यों का एक उत्तम वाहन है और अपनी पृष्ठपर उनको लाद कर बड़े जोर से चलता है तद्वत् इस संसार को जानो। जीवात्मा और परमात्मा का यह एक उत्तम वाहन है और अश्व के समान ही बड़े वेग से सब पदार्थों को लादकर चल रहा है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक अश्व तो यह समष्टि संसार है परन्तु इस समष्टि संसार में व्यष्टि रूप से अनन्त अश्व हैं यह पृथिवी एक अश्वा (घोड़ी) है और इसके समान अनेक पृथिवी हैं वे सब ही अश्वाएं हैं क्योंकि ये भी अपनी पृष्ठ पर चेतनाचेतन समुद्र नदी आदि सब पदार्थों को लेकर बड़े वेग से दौड़ रही हैं। यद्यपि पृथिवी का दौड़ना हमें प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता तथापि अनेक परीक्षाओं से सिद्ध है कि यह दौड़ रही है इसी प्रकार आकाश में चन्द्र सूर्य नक्षत्र हैं ये घोड़े के समान दौड़ रहे हैं। इस हेतु यहां अश्व शब्द से समस्त सृष्टि का ग्रहण हुआ है और इससे उत्तम रूपक अन्य नहीं हो सकता था।

(२) संस्कृत भाषा में एक ही शब्द किसी अर्थ में रूढवत् प्रयुक्त होता है और किसी अर्थ में यौगिकवत्। जैसे "**अज**" शब्द छाग अर्थ में रूढ़ ही मानना पड़ेगा परन्तु जीवात्मा और परमात्मा में यौगिक। क्योंकि "**न जायते**" जो न उत्पन्न हो उसे “**अज**" कहते

हैं। इसी प्रकार "**अश्व**" शब्द घोड़े अर्थ में एक प्रकार से रूढ़ परन्तु जब संसार वाचक होगा तब यौगिक होगा। क्योंकि "**अश्नुते व्याप्नोतीत्यश्वः**" "**अशू व्याप्तौ संघाते च**" जो बहुत व्यापक हो उसे अश्व कहते हैं। व्यापकता भी सापेक्ष होती है, जैसे ईश्वर की व्यापकता सब से बड़ी है। इसकी अपेक्षा संसार की व्यापकता न्यून है और संसारस्थ पदार्थों में एक दूसरे की अपेक्षा व्यापक है। इस संसार की भी सीमा अस्मदादिकों की बुद्धि से बहिर्भूत है, अतः इसको "**अश्व**" नाम से यहां ऋषि कहते हैं। किन्हीं आचार्य्यों के मत में सब ही शब्द यौगिक हैं रूढ़ नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार भी पशुओं में प्राय: अपने गुणों से अश्व व्यापक प्रसिद्ध है। इस हेतु भी घोड़े को अश्व कह सकते हैं यद्वा "**अश भोजने**" धातु भी है। पशुओं में अधिक भोजन करने से घोड़े को अश्व कहते हैं। यद्वा सब ही आचार्य धातु को अनेकार्थक मानते हैं। जगद्वाची अश्व शब्द वेदों में आया है, यथा-(**अत्र**) हे परमात्मन् आप की इस व्यापकता के मध्य में (**अस्य**) इस सर्वत्र दृश्यमान (**अश्वस्य**) व्यापनशील जगत् का (**जनिम**) जन्म होता है अतः हे ब्रह्मन् (**स्वः+द्रुहः**) ज्योति से द्रोह करनेहारे (**रिषः**) और हिंसा करनेहारे पुरुषों के (**संपृचः**) सम्पर्क=संसर्ग से (**सूरीन्**) विद्वानों की (**पाहि**) रक्षा करो और हे भगवन् ! (**आमासु**) मा सम्पत्ति उससे पूर्ण (**पूर्व**) ग्रामों में जो (**परः**) अतिशय (**अप्रमृष्यम्**) अधृष्यमाण सत्कार के योग्य पुरुष है उसको (**अरातयः**) शत्रु (**नविनशत्**) प्राप्त न कर सके और (**अनृतानि**) मिथ्यावस्तु (**न**) प्राप्त न होवें अर्थात् परम सम्पत्तियुक्त ग्रामों में जो सब के नायक और परम प्रतिष्ठित पुरुष हैं उनको न शत्रु और मिथ्या व्यवहार प्राप्त होवें। यहां अश्व शब्द जगद्वाची है, इसमें सन्देह नहीं।

सप्त युञ्जन्ति रथ मेकचक्र मेकोऽश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्र-मजर-मनर्वे यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः॥ २॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः। सप्त स्वस्वारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥ ३॥ [ऋ० १।१६४]

इन दो उपरिष्ठ मन्त्रों में सूर्य और सूर्य के किरण दोनों अर्थ में अश्व शब्द का प्रयोग आया है। अमरकोश में सप्ताश्व, हरिदश्व आदि सूर्य के नाम आये हैं। सूर्य की स्त्री सरण्यू एक समय घोड़ी का रूप धारण कर भाग गई सूर्य भी यह लीला देख घोड़े का रूप धारण कर उसके निकट पहुंचा। ऐसी ही याज्ञवल्क्य के विषय में कथा आई है। जब याज्ञवल्क्य वेद

के लिये तपस्या कर रहे थे तब सूर्य ने घोड़े का रूप बन याज्ञवल्क्य को वेद सिखलाया इत्यादि। इन सबों का तात्पर्य कुछ अन्य ही था परन्तु पुराणों ने सब चौपट कर दिया।

ईश्वरवाची अश्वशब्द॥

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ [अथर्व ० १९। ५३। १]

यहां काल और अश्व शब्द ईश्वर के ही अर्थ में हैं, प्रायः देखने से विदित होता है कि यह वर्णन सूर्य का है परन्तु सो नहीं है । देखो—

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत। काले ह भूतं भव्यञ्चेषितं हवि तिष्ठति॥ ५॥

काले भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः॥ ६॥

कालादापः समभवन् कालाद्ब्रह्म तपो दिशः। कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः॥

कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत।

इत्यादि [अथर्व १९ काण्ड, ५३-५४] मन्त्रों के देखने से ईश्वर के ही लक्षण पाये जाते हैं। इस काल ने द्युलोक पृथिवी आदि को उत्पन्न किया। काल से ऋग्वेदादि प्रकाशित हुए काल से सूर्य ही उदित होता है और काल में ही प्रविष्ट होता, काल की सहायता से तप्त होता इत्यादि लक्षण: ईश्वर के ही हो सकते हैं अन्य के नहीं। यहां ईश्वर को अश्व कहा है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व का वाहक वही है।

शतपथ में— **वज्रो वा अश्वः॥** ४। ३। ४। २७॥ **वीर्यम्वा अश्वः॥** २। १। २४। **अग्निर्वा अश्वः। राष्ट्रम्वा अश्वः।** इत्यादि प्रमाण आए हैं। वज्र, वीर्य, राष्ट्र, अग्निः आदि भी अश्व कहलाते हैं। शतपथ ब्राह्मण के १३ त्रयोदश काण्ड में "**सर्वमश्वमेधः**" यह शब्द अनेकवार आया है इससे विदित होता है कि अतिप्राचीन काल में अश्वमेध नाम "**सब**" का था अर्थात् इस समष्टि सृष्टि का नाम ही "**सर्व**" है, इसके अनन्तर ही "**सर्वस्यास्यै**" प्रयोग आता है। सब पदार्थ की विज्ञानप्राप्ति के लिये यह यज्ञ था (**अश्वः संसारो मेध्यते सम्यक् ज्ञायते इति अश्वमेधः**) यह भी एक प्रथा देखने में आती है कि जो सम्पूर्ण पृथिवी को विजय करे वही अश्वमेध करने का अधिकार होता है इस यज्ञ में पृथिवीस्थ सब मुख्य महात्मा ऋषि मुनि विद्वान् गायक आदि बड़े-२ राजा महाराजा एवं सब पदार्थ एकत्रित

होते थे, एक प्रकार की प्रदर्शिनी थी। इससे भी यही अनुमान होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ के विज्ञान के लिये ही यह यज्ञ था।

मेध्य— "**मेधृ संगमे च**" संगम अर्थ में मेधृ धातु है यहां च शब्द से पूर्व पठित मेधा और हिंसन ये दोनों अर्थ भी गृहीत होते हैं, इस प्रकार मेध् (मेधृ) धातु के मेधा १, हिंसन २ और संगम ३ ये तीन अर्थ होते। इनमें से आजकल केवल हिंसा अर्थ का ही ग्रहण करते हैं क्योंकि ये लोग यज्ञ में पशुओं की हिंसा मानते परन्तु वैदिकसिद्धान्त यह नहीं। वेदों में अश्वमेधादि यज्ञों का कुछ अन्य ही अभिप्राय था। अश्वमेधादि शब्द का पाठ वेदों में आया है। यथा—

राजसूयं वाजपेयम् अग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीववर्हिर्मदिन्तमः॥ [अथर्व० ११। ६। ७]

राजसूय १, वाजपेय २, अग्निष्टोम ३, अध्वर ४, अर्क ५, अश्वमेध ६, जविवर्हि ७ और मदिन्तम ८, इत्यादि यज्ञ (उच्छिष्टे) ईश्वर में आश्रित हैं अर्थात् ईश्वर से ही सम्बन्ध रखनेहारे हैं, इससे सिद्ध होता है कि अश्वमेध यज्ञ भी अनादि और ईश्वर विहित है। स्वयं ईश्वर कदापि नहीं कह सकता कि घोड़े वा अन्य पशुओं को मारकर मेरी प्रसन्नता के लिये होम करो। यदि ऐसा कहता तो मनुष्य को भी मारकर होम करने की विधि बतलाता क्योंकि ईश्वर के सब ही प्यारे जीव हैं, तैत्तिरीय संहिता [५। ७। ५२] में "**असावादित्योऽश्वमेधः**" यह आदित्य=सूर्य ही अश्वमेध है। ऐसा पाठ आता है इन सबों से प्रतीत होता है कि अश्वमेध का कुछ अन्य ही अभिप्राय था। जिस यजुर्वेद के (२३) त्रयोविंशाध्याय को आजकल यज्ञ में विनियुक्त करते हैं, इसी में ये मन्त्र आये हैं।

अग्निः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त... (२) **वायुः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त...** (३) **सूर्यः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त...** ॥ [यजु० २३। १७] (१) अग्नि पशु है उससे यज्ञ करते हैं। (२) वायु पशु है उससे यज्ञ करते हैं। (३) सूर्य पशु है उससे यज्ञ करते हैं। यदि यहां अक्षरार्थ लिया जाय तो क्या अर्थ होगा, क्या अग्नि आदि कोई पशु हैं जिनको मार कर यज्ञ करना चाहिये, यदि ऐसा कहा जाय कि प्रथम पशुओं को मारकर यज्ञ करते थे इसके निषेध के लिये यह मन्त्र बनाया गया है। प्रथम अग्नि आदि देव ही पशु समझे जाते थे और उनसे ही यज्ञ किया करते थे यथार्थ में अश्व, अज आदि पशु मारकर यज्ञ नहीं करते थे इस हेतु तुम लोग जो अश्व आदि पशुओं को मारते हो सो अनुचित करते हो इस अभिप्राय के लिये अग्नि

आदि देव को पशु कहा है। यह कहना भी आपका ठीक नहीं होगा क्योंकि वेद के अनुसार ही तो आप हिंसामय यज्ञ करवाते हैं, तब आपको उचित था कि इस वेद से हिंसात्मक यज्ञ नहीं करवाते इस हेतु आपका कथन उचित नहीं। और वेद से प्राचीन कौनसा ग्रन्थ है जिससे आपको मालूम हुआ कि प्राचीनकाल में हिंसात्मक यज्ञ था। इसके निषेध के लिये **"अग्निपशुरासीद्"** इत्यादि मन्त्र कहे हैं। इसका भाव यह है कि यहां पशु शब्द का अर्थ केवल साधन सामग्री है। पृथिवीस्थ, अग्नि अन्तरिक्षस्थ वायु और द्युलोकस्थ सूर्य इन तीनों लोकों के तीन ही साधन से ऋषि लोग यज्ञ करते हैं। शतपथ में- **"पशवो वै देवानां छन्दांसि अन्नं वै पशवः"** इत्यादि वाक्य आये हैं, देवों का छन्द ही पशु है, अन्न ही पशु हैं देवताओं की प्रीत्यर्थ ही यज्ञ किये जाते हैं उन देवताओं के पशु गायत्री आदिक छन्द हैं न कि घोड़े, आदि पशु यहां पर भी पशुशब्द का अर्थ केवल साधन है संस्कृत में अनेकार्थ शब्द बहुत हैं। पहले इसका अर्थ साधन होता होगा पीछे घोड़े आदिक अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा, ऐसी संभावना हो सकती है या अनेकार्थक ही मानना उचित है। निरुक्तकार यास्काचार्य लिखते हैं— **विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिनी+एषा+ऋग् भवति य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥** विश्वकर्मा भौवन ऋषि ने सर्वमेध नाम यज्ञ में सब प्राणियों को अन्त में अपने को भी होम कर दिया। इसके विषय में "**य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्**" यह ऋचा प्रमाण होती है। मैं यहां प्रथम "**य इमा विश्वा भुवनानि**" इस ऋचा का पूरा अर्थ महीधर के अनुसार करता हूं ताकि इस आख्यायिका का तात्पर्य विदित हो। वैदिक इतिहासार्थ निर्णय देखो। वहां विस्तार से वर्णन किया गया है।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥ [यजुः० १७। १७]

भाष्यम्— प्रजां संहरन्तं सृजन्तं विश्वकर्माणं पश्यन्नृषिः कथयति। यो विश्वकर्मा इमा इमानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि जुह्वत् संहरन्सन् न्यसीदत् निषण्णः स्वयं स्थितवान्। कीदृशः ऋषिः अतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञः। होता संहाररूपस्य होमस्य कर्ता। नोऽस्माकं प्राणिनां पिता जनकः प्रलयकाले सर्वलोकान्संहृत्य यः परमेश्वरः स्वयमेवासीदित्यर्थः। तथा चोपनिषदः "**आत्मा वाइदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्**" "**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय**" मित्यादयाः। स तादृशः परमेश्वरः

आशिषाभिलाषेण बहुःस्यां प्रजायेयेत्येवंरूपेण पुनः सिसृक्षारूपेण द्रविणमिच्छमानः जगद्रूपं धनमपेक्षमाणः अवरानभिव्यक्तोपाधीनाविवेश जीवरूपेण प्रविष्टः। कीदृशः प्रथमच्छत् प्रथममेकमद्वितीयं स्वरूपं छादयतीति प्रथमच्छद् छादयतेः किपि ह्रस्वः उत्कृष्टं रूपमातृन्वन्सन् प्रविष्टः। इच्छमान इतीषेरात्मनेपदमार्षम् "सोऽकामयत बहुःस्यां प्रजायेय स तपोऽतप्यत स तपस्तत्वा इदयंसर्वमसृजत यदिदं किं च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यादिश्रुतेः। महीधर इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं— विश्वकर्मा अर्थात् ईश्वर को प्रजाओं का और सृजन करनेहारा जान ऋषि कहते हैं कि (यः) जो विश्वकर्मा (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) प्राणियों को (जुह्वत्) संहार करते हुए (न्यसीदत्) स्वयं स्थित है वह विश्वकर्मा कैसा (ऋषिः) अतीन्द्रिय द्रष्टा अर्थात् सर्वज्ञ। पुनः कैसा है (होता) संहाररूप होम का करने हारा। पुनः (नः) हम लोगों का (पिता) पालक जनक अर्थात् प्रलयकाल में सब को संहार कर जो परमेश्वर स्वयं एक रह जाता है। इसमें उपनिषद् का भी प्रमाण है। "आत्मा ही यह एक प्रथम था अन्य कुछ भी नहीं दीखता था "हे सोम्य ! एक अद्वितीय सत् ही प्रथम था" इत्यादि। ऐसा परमेश्वर (आशिषा) अभिलाषा से अर्थात् मैं बहुत होऊं इस प्रकार की सृष्टि करने की इच्छा से (द्रविणम्+इच्छमानः) जगद्रूप धन की इच्छा करता हुआ (अवरान्) अभिव्यक्त प्रकाशित उपाधियों में (आविवेश) प्रविष्ट हुआ। वह कैसा है (प्रथमच्छद्) अपना जो उत्कृष्ट रूप है उसको छिपाते हुए इन उपाधियों में वह प्रविष्ट हुआ, उसने" कामना की कि मैं बहुत होकर उत्पन्न होऊं। उसने तप किया तप करके यह सब बनाया और बराबर उसमें प्रविष्ट हुआ। इत्यादि श्रुति के प्रमाण से। इसका अर्थ वैदिक इतिहासार्थ निर्णय में देखें।

अब आप विचार सकते हैं कि यास्काचार्य ने विश्वकर्मा भौवन के सर्वमेध यज्ञ में सब प्राणियों को होमने में जो प्रमाण दिया है। इसका क्या तात्पर्य्य हुआ। यहां भौवन विश्वकर्मा शब्द से किसी राजा वा ऋषि का ग्रहण नहीं है किन्तु ये दोनों पद ईश्वर वाचक हैं (भौवन) भुवन-समस्त लोक लोकान्तर और समस्त प्राणी उनमें जो व्यापक हो उसे "भौवन" कहते हैं। (भुवनेषु पृथिव्यादि लोकेषु समस्तेषु च प्राणिजातेषु यस्तिष्ठति स भौवनः) इसी प्रकार "विश्वकर्मा विश्वकर्ता" विश्व के कर्ता का नाम विश्वकर्मा है। इस भौवन विश्वकर्मा ने (सर्वमेधे) सर्वमेध नाम के यज्ञ में (सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार) सब प्राणियों का होम किया, इसका तात्पर्य यह है कि उस ईश्वर ने प्रलयकाल में सब प्राणियों का (सम्पूर्ण संसार का) संहार कर लिया है और (अन्ततः) अन्त में (सः) उस परमेश्वर ने

(भात्मानम्) अपने आत्मा का भी (जुह्वाञ्चकार) होम किया अर्थात् अपने को भी छिपा लिया। जब सृष्टि ही नहीं रही तो ईश्वर को कौन देखे, इस हेतु मानो ईश्वर ने अपने को ही संहृत कर लिया यह इसका आशय है। अब इस यास्क के वचन से कोई यह समझले कि प्राणियों का होम करना चाहिये और अन्त में अपने को भी अग्नि में गिरकर वा अन्य प्रकार से होम करवादे। तो यह दोष यास्काचार्य का नहीं है। मन्त्र के अर्थ का विचार करना चाहिये। अब द्वितीय ऋचा के अर्थ को देखो—

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्। मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना (जनासः) इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ [यजुः० १७। २२॥]

(ऋग्वेद में " जनासः " और यजुवर्दे में “सपत्नाः" ऐसा पाठ है।)

ईश्वर के अद्भुत कर्म को देख उपासक कहता है (**विश्वकर्मन्**) हे विश्वकर्मन्! विश्वकर्त्ता जगदीश्वर! (**हविषा वावृधानः**) सृष्टिरूप द्रव्य से बढ़ते हुए अर्थात् प्रशंसित होते हुए आप (**स्वयम्**) स्वयं (**पृथिवीम्**) सब से अधःस्थित लोक (**उत**) और (**द्याम्**) सबसे उपरिस्थित लोक अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को (**यजस्व**) होमो अर्थात् सुख पहुंचाओ अथवा (**पृथिवीम्**) पृथिवीस्थ और (**द्याम्**) धुलोकस्थ सब जीवों को स्वयं आप (**यजस्व**) सुखस्वरूप दान प्रदान करो। आपके इस व्यापार को देखकर (**अभितः**) चारों तरफ स्थित (**अन्ये**) अन्य (**जनासः**) मनुष्य (**मुह्यन्तु**) मोहित होवें। अथवा हे भगवन्! आप सब को तो दान दीजिये परन्तु (अभितः) मेरे चारों तरफ़ जो (**अन्ये**) अन्य (**सपत्नाः**) शत्रु हैं वे (**मुह्यन्तु**) मोहित होवें। आप की कृपा से मेरे शत्रु विनष्ट होवें और (**अस्माकम्**) हम लोगों के मध्य शिक्षक (**मघवा**) ज्ञानप्रद (**सूरिः**) परम विद्वान् (**अस्तु**) होवे। इसका भी अर्थ ‘वैदिक इतिहासार्थ नि०’ में देखो। यहां पर भी सम्पूर्ण विश्व के ही यज्ञ करने की प्रार्थना पाई जाती है और इन दोनों ऋचाओं के प्रमाण यास्काचार्य्य ने दिये हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदका कुछ अन्य ही तात्पर्य्य था। समय पाकर वह अर्थ विस्मृत हो गया। इस सर्वमेध यज्ञ की विधि [शतपथ ब्राह्मण काण्ड १३। अध्याय ७। ब्राह्मण ६] में आई है। यथा—

ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि। भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हत्वा भूतानि

चात्मनि। सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठयं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद् यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेघान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठयं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैति॥

ब्रह्म परमात्मा जो स्वयम्भु है उसने सम्पूर्ण विश्व में सृष्टि करने की इच्छा से क्षोभ पहुंचाया तब सृष्टि करने के लिये ईक्षण किया और देखा कि इस क्षोभ की अनन्तता नहीं है अर्थात् मैं जो सृष्टि करना चाहता हूं वह बहुत छोटी है। अच्छा मैं सब भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को होमूं। ऐसा विचार उसने सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को होम कर श्रेष्ठता, स्वाराज्य (सुखमयराज्य) और आधिपत्य को पाया। वैसे ही यजमान "**सर्वमेध**" नाम के यज्ञ में सब मेधों को और सब भूतों को होम करके श्रेष्ठ्य, स्वाराज्य और आधिपत्य को पाता है। यदि मेध शब्द का अर्थ हिंसा ही हो तो ईश्वर के पक्ष में कदापि घट ही नहीं सकता क्योंकि वह अपने आत्मा की हिंसा नहीं कर सकता। यहां ईश्वर के पक्ष में अर्थ विस्पष्ट है। ईश्वर सृष्टि बनाकर उसमें व्याप रहा है और यह समस्त विश्व ईश्वर के आधार पर है अपने ही आधार पर इस सृष्टि को बनाया। अब यजमान के पक्ष में यदि यह कहा जाय कि सर्वमेध में सब की हिंसा कर होम करदे तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि क्या अपने अधीन मनुष्य को भी मार कर होम दे और अन्त में आप भी मरजाय। अतः इन यज्ञों का तात्पर्य कुछ अन्य ही था समय पाकर सब कुछ परिवर्तित होगया। देखो 'वैदिक इ० नि०'।

सूर्य्यं। सूर्य्यः चक्षुः=सूर्य नेत्र है अर्थात् नेत्र का साधन वा कारण सूर्य्य है, इसी हेतु "**चक्षोः सूर्यो अजायत**" चक्षु-नेत्र के निमित्त सूर्य की उत्पत्ति होती है ऐसा वर्णन वेदों में पाया जाता है। प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि रात्रि में कोई प्राणी पदार्थ को नहीं देखता, चांदनी रात्रि में जो देखता है वह भी सूर्य के ही प्रकाशचन्द्र में गिरकर पृथिवी पर प्रतिफलित होने से नेत्र में ज्योति प्राप्त होती है और अन्य जो प्रदीप विद्युत् आदिक तैजस पदार्थ हैं जिनकी सहायता से नेत्र में ज्योति प्राप्त होती है वे सब सूर्य शब्द के अन्तर्गत ही आ जाते हैं क्योंकि उपलक्षण से सूर्यशब्द प्रकाशवान् वस्तुमात्र का बोधक होता है। उषा का भी कारण सूर्य है अतः उषा के अनन्तर सूर्य के तत्त्वों का अन्वेषण करना आवश्यक है सौर जगत् में सूर्य की और शिर में चक्षु की प्रधानता है। यहां चक्षुशब्द से सब ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण है क्योंकि नेत्र के अनन्तर नासिका आदिक का वर्णन नहीं है। ऐसा भी देखा गया है कि जहां सूर्य की उष्णता नहीं पहुंचती है वहां नेत्र नहीं बनता है पदार्थ विद्या के अन्वेषण

करनेहारे अतिगभीर समुद्र के जल के अभ्यन्तर ऐसा स्थान बतलाते हैं। जैसे सूर्य नेत्र का सहायक वैसे ही पृथिवी घ्राण का, वायु त्वचा का, जल रसना का और आकाश कर्ण का श्रोत्र के लिये वायु भी सहायक है क्योंकि "**श्रोत्राद्वायुश्च**" श्रोत्र के निमित्त वायु की उत्पत्ति वेद मानता है।

वातः+प्राण=इस सम्पूर्ण समष्टि जगत् का वायु ही प्राण है। सूर्य के रहते हुए भी यदि वायु न मिले तो प्राणियों को जीवन धारण करना अति कठिन है इस से यह सूचित होता है कि बाह्य वायु ही रूपान्तर को प्राप्त होकर सब जीवों को जिला रहा है और यही वायु नेत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और शिर को सहायता पहुंचा रहा है इसी हेतु उपनिषदों में सब इन्द्रियों का एक नाम "**प्राण**" आता है। इस हेतु नेत्र के अनन्तर उसका भी जो सहायक है उसका बोध होना उचित है।

वैश्वानरः+अग्निः+व्यात्तम्=वैश्वानर अग्नि ही मुख है वैश्वानर शब्द अग्नि का विशेषण है (यो विश्वान् सकलान् नरान् पदार्थान् नयति स वैश्वानरः) सब पदार्थों में अनुगत जो एक आग्नेय शक्ति जिसको विद्युत् भी कहते हैं उसे यहां वैश्वानर कहा है पदार्थों के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि यह ब्रह्माण्ड आग्नेय पदार्थों का एक समूह है जो परमाणु कहे जाते हैं वे भी आग्नेय पदार्थ का भागानई अंश है, कोई परमाणु आग्नेय शक्ति से विहीन नहीं। वही शक्ति पदार्थ के अस्तित्व का भी कारण है। ईश्वर ने अद्भुत शक्ति सम्पन्न इस वैश्वानर अग्नि को बनाया है। पदार्थ तत्त्वविद् इसके गुणको जानते हैं। जैसे मुख की सहायता से खाद्य पदार्थ अभ्यन्तर में जा शरीर की पुष्टि का कारण होता है वैसे ही इस वैश्वानर अग्नि की सहायता से यावत्पदार्थ पुष्टि पा रहे हैं। यद्यपि इस वैश्वानराग्नि का नाश कदापि नहीं तथापि किसी कारणवश यह दब जाता है तब ही प्राणी की मृत्यु प्राप्त होती है। वैश्वानर सम्बन्धी वेदों में अनेक मन्त्र आये हैं यहां एक मन्त्रउद्धृत करते हैं जिससे अनेक भाव विद्वान् लोग निकाल सकते हैं।

स रोचयज्जनुषा रोदसी उभे स मात्रोरभवत् पुत्र ईड्यः। हव्यवाडग्नि रजरश्चनोहितो दूडभो विशामतिथिर्विभावसुः॥ [ऋ० ३।२।२]

(**सः**) उस वैश्वानर ने (**जनुषा**) जन्म से अर्थात् उत्पन्न होते ही (**उभे+रोदसी**) द्युलोक और पृथिवी इन दोनों को (**रोचयत्**) प्रकाशमान किया (**सः**) वह वैश्वानर (**मात्रोः**) माता पिता जो द्युलोक और पृथिवी इन दोनों का (**ईड्यः**) प्रशंसनीय (**पुत्रः**) पुत्र है पुनः वह अग्नि

कैसा है (**हव्यवाट्**) पदार्थों का वाहक। पुनः (**अग्निः**) सब में स्थित (**अजर**) जरावस्थारहित अर्थात् ह्रास=क्षयरहित (**चनोहितः**) अन्न खाद्य पदार्थ के धारण करनेहारा (**दूडह**) जिसकी हिंसा नहीं होसकती=अविनश्वर (**विशाम्**) प्रजाओं का (**अतिथिः**) मान्य (**विभावसुः**) पदार्थों का प्रकाशक। इससे विस्पष्टतया विदित होता है कि एक अदृश्य महान् शक्ति का नाम वैश्वानर है जो सब पदार्थों के अस्तित्व का कारण है।

अश्वस्य मेध्यस्य+संवत्सर आत्मा=इस सृष्टि का वर्ष शरीर है (आत्मा=शरीर) यहां सम्वत्सर शब्द सदृश कालप्रवाह का द्योतक है। प्रत्यक्षतया देखते हैं कि एकादश मासों के पश्चात् वही समय पुनः प्राप्त होता है। प्रत्येक द्वादश मास समान ही प्रायः होता है। यहां सम्वत्सर शब्द केवल उपलक्षण में है। इस सृष्टि का समान प्रवाहरूप जो एक-एक कल्प है वह-२ शरीर है, जैसे शरीर बदलता जाता है वैसे ही इस सृष्टि का जो एक-एक कल्प रूप शरीर है वह भी परिवर्तित होता रहता है।

"**द्यौः पृष्ठम्**" अब आगे सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को जानने के हेतु गिनाते हैं। यदि सब शब्दों पर विशेष व्याख्या की जाय तो एक-२ कण्डिका का एक-२ ग्रन्थ होजायगा। इस हेतु कठिन शब्दों का भावार्थ कहा गया है आगे अपनी बुद्धि से ऋषियों के आशय को पुनः पुनः विचार करो॥ (क)

द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि॥ ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्द्धो निम्लोचन् जघनार्दो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्॥ १॥ (ख)

अनुवाद— इस विज्ञातव्य संसार की पृष्ठ-द्युलोक है, उदर-अन्तरिक्ष, पादासनस्थान-पृथिवी, पार्श्व-दिशाएं, पार्श्व की अस्थि-अवान्तर दिशाएं, अङ्ग-ऋतु, सन्धियां-मास और अर्धमास, पाद-अहोरात्र, अस्थि-नक्षत्र, मांस-नभस्थमेघ। अर्धपरिपक्वभोजन-बालू, नाड़ियां-नदियां, यकृत् और क्लोमा-पर्वत, लोम-ओषधि और वनस्पति, पूर्वार्ध-उदित होता हुआ सूर्य, जघनार्ध-अस्त होता हुआ सूर्य, जो विजृम्भण है-वह विद्योतन है, जो गात्र कम्पन है-वह गर्जन है। जो मूत्र है-वह वर्षण है, वाणी ही इसकी वाणी है॥ १॥ (ख)

पदार्थ— आगे अन्य अवयवों का वर्णन करते हैं। इस जानने योग्य संसार की (**पृष्ठम्**) पृष्ठभाग (**द्यौः**) द्युलोक है (**उदरम्**) उद पेट (**अन्तरिक्षम्**) अन्तरिक्ष है। पृथिवी और द्युलोक के मध्यस्थान का नाम अन्तरिक्ष है (**पाजस्यम्**) पादासनस्थान पैर रखने की जगह (**पृथिवी**) यह भूमि है (**पार्श्वे**) दोनों पार्श्व (**दिशः**) पूर्व पश्चिमादि दिशाएं हैं (**पर्शवः**) पार्श्व की हड्डियां (**अवान्तरदिशः**) आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएं हैं। (**अङ्गानि**) जो अङ्ग पहले कह चुके हैं उनको छोड़ अन्यान्य अङ्ग (**ऋतवः**) वसन्त ग्रीष्म आदि ऋतु हैं। (**पर्वाणि**) अङ्गों की जहां-२ सन्धियां हैं वे पर्व कहाते हैं संसार की सन्धियां (**मासाः+च+अर्धमासाः+च**) चैत्र आदि मास और शुक्लपक्ष आदि अर्धमास है (**प्रतिष्ठा**) पैर (**अहोरात्राणि**) दिन और रात्रि है (**अस्थीनि**) हड्डियां (**नक्षत्राणि**) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र हैं। (**मांसानि**) मांस (**नभः**) नभस्थ मेघ हैं (**ऊवध्यम्**) अर्धपरिपक्व भोजन (**सिकताः**) बालू है (**गुदाः**) नाड़ियां (**सिन्धवः**) नदियां हैं (**यकृत्+च**) हृदय के नीचे दक्षिणभाग में जो मांस पिण्ड उसे यकृत् कहते हैं (**क्लोमानः**) और उत्तरभाग में जो मांसपिण्ड उसे क्लोमा कहते हैं वे (**पर्वताः**) हिमालय आदि पर्वत हैं (**लोमानि**) लोम (**ओषधयः+च**) ओषधि (**वनस्पतयः+च**) वनस्पति हैं (**पूर्वार्धः**) नाभिप्रदेश के उपरिष्ठ भाग को पूर्वार्ध कहते हैं इस संसार का पूर्वार्ध (**उद्यन्**) उदितावस्था प्राप्त रूप संसार है (**जघनार्धः**) नाभि प्रदेश के नीचे भाग को जघनार्थं कहते हैं। इसका जघनार्ध भाग (**निम्लोचन्**) उतरता हुआ संसार है। जैसे इस शरीर की दो अवस्थाएं हैं एक चढ़ती और एक उत्तरती अर्थात् बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक इस की वृद्धि होती जाती पीछे इसमें से ह्रास होने लगता है इसी प्रकार इस संसार की भी दशा है। एक ही वार यह संसार झट से नहीं हो जाता किन्तु धीरे-२ यह बनता और बहुत दिनों के पीछे घटते-घटते एक समय प्रलय आ जाता है। ये ही दोनों इस संसाररूप अश्व के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध हैं (**यद्+विजृम्भते**) जो विजृम्भण (शरीर के मड़ोड़ों के साथ मुख के विदारण का नाम विजृम्भण है) है (**तद्विद्योतते**) वह विद्युत् का विद्योतन है (**यद्विधनुते**) जो गात्रविकम्पन है (**तत्+स्तनयति**) वह मेघ गर्जन है (**यत्+मेहति**) जो मूत्र करण है (**तद्वर्षति**) वही वर्षण है (**अस्य**) इस संसारस्थ प्राणियों की जो (**वाग्**) वाणी है वही (**वाग्**) इसकी भी वाणी है अर्थात् जैसे शरीर में विजृम्भण आदि क्रिया होती है तद्वत् मानो विद्योतन आदि है। वाणी के लिये अन्य कल्पना इसलिये नहीं की गई कि संसार कोई भिन्नवस्तु नहीं जो-जो भाषण करनेहारे हैं वे भी तो संसार ही में हैं। संसार से भिन्न नहीं जैसे वन और वनस्थ वृक्ष-वृक्षों के समुदाय का नाम ही वन है यदि वन से वृक्ष समुदाय पृथक् कर दिया जाय

तो वह वन पुनः वन नहीं कहलावेगा। इसी प्रकार संसारस्थ प्राणियों की जो वाणी है वही संसार की वाणी है॥ १॥ (ख)

भाष्यम्— द्यौः पृष्ठमिति। अस्य मेध्यस्य सम्यग् विज्ञातव्यस्याश्वस्य संसारस्य संसाररूपस्याश्वस्य वा पृष्ठं द्यौरस्ति जगतो यः सर्वोपरिष्ठो भागः स द्यौशब्देन, मध्यमो भागोऽन्तरिक्षशब्देन, अधस्थः पृथिवीशब्देन व्यवह्रियते अतो द्युलोक ऊर्ध्वत्वसाम्यात्पृष्ठम्। अवकाशसाम्यादन्तरिक्षमुदरम्। अधःस्थितत्वसाम्यात् पृथिवी पाजस्यं पादस्थानम्। पादा अस्यन्ते स्थाप्यन्तेऽस्मिन्निति पादस्य पाजस्यं पादासनस्थानम्। अत्र दकारस्थाने जकार आर्षो विज्ञेयः। दिशः प्राच्यादयश्चतस्रः पार्श्वे कक्षाघोभागौ पार्श्वौ "बाहुमूले उभे कक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः" अवान्तरादेश आग्नेयाद्याः पर्शवः पर्शुकाः "पार्श्वास्थानि तु पर्शुका" इत्यमरः। ऋतवो वसन्तग्रीष्मशर दादयः अङ्गानि उक्तेभ्योऽन्येऽवयवाः। मासाश्चैत्रादयः। अर्धमासाः शुक्लपक्षादयः। पर्वाणि सन्धयः। अहोरात्राणि प्रतिष्ठाःपादाः। प्रतितिष्ठति प्राणी एतैरिति प्रतिष्ठाः। नक्षत्राणि अश्विनीभरणीप्रभृतीनि अस्थीनि। नभो नभस्था मेघा मांसानि। सिकता बालुकाः ऊवध्यम् अर्धजीर्णमशनम्। गुदा नाड्यः सिन्धवोनद्यः स्यन्दनसाम्यात्। यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्थौ दक्षिणोत्तरौ मांसपिण्डौ पर्वताः काठिन्योच्छ्रयत्वसाम्यात्। ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि। उद्यनुद्गच्छन् सूर्य्यः पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वभागः । निम्लोचन् अस्तं गच्छन् सूर्यो जघनार्थो नाभेरधोभागः। यद्विजृम्भत इत्यादौ प्रत्ययार्थस्याविवक्षितत्वमस्ति यद् विजृम्भते यद्विजृम्भणं गात्राणां विनामनेन मुखविदारणं तद्विद्योतते विद्योतनम्। यद्विधूनुते गात्रविधूननमवयवकम्पनं तत्स्तनयति तत्स्तनितं गर्जनम्। यन्मेहति यन्मूत्रणं तद्वर्षति तद्वर्षणम्। अस्य संसारस्य प्राणिनो वा या वाग् सैवास्यापि वाग् अत्र नान्या कल्पनास्तीत्यर्थः॥ १॥ (ख)

अहर्वा अश्वमिति। संसारस्य द्वे अवस्थे भवतो व्यक्ताऽवक्ता च उदिता प्रलीना वा। व्यावहारिकी व्यक्ता तदन्याऽव्यक्ता। इदानीमभितः सर्वं सूर्य नक्षत्रं चन्द्रं मेघं पवर्त नदीं मनुष्यं पशुं पक्षिणमित्येवंविधं पदार्थं वक्तं पश्यामः। इयमेव दैनिकी वोदिता वा व्यक्ता वा व्यावहारिक्यवस्था। यदा सूर्यादयः सर्वे पदार्था जलपूरप्रवेशविकीर्णाः सिकता इव नंक्ष्यन्ति तदेदं जगत् प्रसुप्तमिव सर्वतो भास्यति इयमेव शार्वरी वा प्रलीना वाऽव्यक्ता वा अव्यवहार्य्यावस्था इमे एव द्वे अवस्थे अत्राहन्रात्रिशब्दौ लक्षयतः। अहन्शब्देन सृष्टेर्व्यावहारिकी रात्रिशब्देन प्रालयिक्यवस्था लक्ष्यते। इमामेव सृष्टेर्महान्तौ महिमानौ।

श्रीकृष्णोऽर्जुनमाह "**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥** २। २८। अहोरात्र इवोदयप्रलयं परिवर्तते।

अहः=दिन। मुख्यतया संसार की दो अवस्थाएं हैं। व्यक्त और अव्यक्त अथवा उदिता और प्रलीना जिस काल में सब व्यवहार हों वह व्यक्तावस्था इससे अन्य अव्यक्तावस्था। इस समय अपने चारों तरफ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ, पर्वत, नदी, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि सब ही व्यक्त (प्रकट) देखते हैं इसी का नाम दैनिकी वा उदिता वा व्यक्ता वा व्यावहारिकी अवस्था है। कदाचित् ऐसा भी समय आवेगा-जब सूर्य आदि सब पदार्थ जैसे जलप्रवाह के प्रवेश से बालू के कण छितरा जाते हैं वैसे ही होकर नष्ट हो जायँगे। तब यह जगत् प्रसुप्त (सोए हुए) के समान चारों तरफ से प्रतीत होगा। इसी अवस्था का नाम शार्वरी (रात्रि सम्बन्धी) वा प्रलीना वा अव्यक्ता है। यहां इन्हीं दो अवस्थाओं को अहत् और रात्रि शब्द लक्षित करते हैं अर्थात् अहन् शब्द से सृष्टि की व्यावहारिकी और रात्रि शब्द से प्रालयिकी अवस्था सूचित होती है। ये ही दोनों अवस्थाएं सृष्टि रूप अश्व के वा परमात्मा के महान् महिमा हैं अन्य नहीं यहां महिमा शब्द के जो अन्य अर्थ करते हैं सो सर्वथा त्यज्य है। श्रीकृष्ण भी अर्जुन से इन ही दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं "हे अर्जुन ये सब भुवन पृथिव्यादि लोक आदि में वक्त, मध्य में व्यक्त और पुनः अन्त में अव्यक्त ही रहते हैं इस में शोक करने की क्या बात है।

इममेकमेव संसारं बहुधा पश्यन्ति। "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वे विवेकिनः" योगे। "यथा-दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथासुखादभिलाषः। कुत्रापि कोऽपि सुखीति। तदपि दुःखशबलमिति दुःखपते निःक्षिपन्ते विवेचकाः"। सांख्ये। अतो दुःखत्रयसंश्लिष्टत्वाद्धेयोऽयं संसार इति सांख्य योगिनः। चार्वाकास्तु— "त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां, दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।

इस एक ही संसार को अपनी-२ रुचि के अनुसार भिन्न-२ देखते हैं। सांख्य और योगी इसको दुःख मिश्रित समझ त्याज्य बतलाते हैं और कहते हैं कि (**विवेकिनः**) विवेकशील योगी की दृष्टि में (**सर्वम्+दुःखमेव**) निखिल विषय सुख-दुःख ही है क्योंकि (परिणाम ताप संसार दुःखैः) परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख इन तीन दुःखों से विषय सुख को मिश्रित होने से (**च**) और (**गुणवृत्तिविरोधात्**) गुणनिष्ठ स्वाभाविक चाञ्चल्य से निरन्तर सत्वगुण की सुखाकार वृत्ति को अन्य विरोधी वृत्तियों से मिश्रित होने से विवेकी

को निखिल ही सुख दुःखरूप भान होता है (**यथा दुःखात्+क्लेशः पुरुषस्य**) पुरुष को दुःख के निर्मित्त जितना क्लेश पहुंचता है (**न+तथा+सुखाद्+अभिलाषः**) उतना सुख से अभिलाष की पूर्ति नहीं होती है (**कुत्रापि कोपि सुखी**) जगत् में कहीं कोई एक आध सुखी है (**तदपि+दुःखशबलम्**) उस सुख को भी दुःख मिश्रित होने से (**दुःख पक्षे+निक्षिपन्ते+विवेचकाः**) विवेकी दुःख ही समझते हैं। इन कारणों से इस संसार को दुःखमय समझ कर योगी हेय कहते हैं।

इसके विरुद्ध चार्वाक इस संसार को इस प्रकार मानते हैं (**दुःखोपरुष्टम्+इति**) दुःख से मिश्रित है इस हेतु (**विषय-संगम-जन्म सुखम्+त्याज्यम्**) वनितादि विषय जन्य सुख को त्याग देना चाहिये (**एषा**) यह (**पुंसाम्**) मनुष्यों की (**मूर्खविचारणा**) मूर्खता का विचार है अर्थात् मूर्ख लोगों का ऐसा विचार हुआ करता है कि संसार दुःखमय है। इसमें वनिता आदि बहुत सुख के पदार्थ हैं (**भोः**) हे शिष्य देखो! (**सितोत्तम तण्डुलाढ्यान्**) श्वेत तण्डुलों से भरे हुए (**शालीन्**) धानों को (**कः+हितार्थी+नाम**) कौन हित चाहनेहारा पुरुष (**तुषकणोपहितान्**) तुष=बूसे के कणों से युक्त होने के कारण (**जिहासति**) त्यागना चाहता है।

व्रीहीन्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्को नाम भोस्तुषकरणोपहितान् हितार्थी" इह सर्वेषा मानन्दानामेकाऽमृतवल्लरी प्रमदा। इह नयनानन्दकरस्तनयः। इह प्रियो बन्धुः। इह सर्वं प्रियं भोग्यम्। अभितः सुखमेव सर्वं मन्दभागिनं कुधियञ्च दुःखाकरोतीति"। एवं मन्यमान्या आदेय इति वदन्ति।

न मे द्वेषरागौ न लोभो न मोहो मदो नैव मे नैव मात्सर्य्यमानम्।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ १॥
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ २॥
न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ ३॥

अर्थात् जैसे शाली में ऊपर बूसा लगा रहता है उसके नीचे चावल होता है। भूसे के भय से शाली को कोई नहीं त्यागता। इसी प्रकार यदि इस संसार में भूसे के समान किञ्चित् दुःख है तो चावल के समान सुख भी बहुत है। इसको त्यागना मूर्खों का काम है। देखो!

यहां सब आनन्दों की एक अमृतलता प्रमदा (स्त्री) यहां नयनानन्द कर तनय। यहां प्रियवन्धु। यहां सबही प्रियभोग्य वस्तु है। चारों ओर सब सुखमय ही पदार्थ हैं, परन्तु मन्दभागी और कुबुद्धि पुरुषको दुःख देता है। इस प्रकार चार्वाक मानते हुए यह संसार ग्रहणीय है ऐसा उपदेश देते हैं।

नवीन वेदान्ती लोग इसको ऐसा समझते हैं (**न मे द्वेषरागौ०**) न मुझे द्वेष, न राग, न लोभ, न मोह, न मद, न मात्सर्य, न धर्म, न अर्थ, न काम, न मोक्ष है। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूं। मैं सर्वथा कल्याण मूर्ति हूं (१) (**न पुण्यम्०**) न मुझे पुण्य, न पाप, न सुख, न दुःख, न मन्त्र, न तीर्थ, न वेद, न यज्ञ, मैं न भोजन हूं, न भोज्य हूं, न भोक्ता हूं, मैं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूं। मैं कल्याणरूप हूं (**न मे मृत्यु शङ्का०**) न मुझे मृत्यु की शङ्का है, न मुझे जाति भेद है, न पिता है, न माता है, न जन्म है, न बन्ध है, न मित्र है, न मेरा गुरु है, न मैं शिष्य हूं, मैं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूं॥

इत्युपरिष्ठकोपदेशं ददत आनन्दैकरूपत्वादानन्द एवेत्येके वेदान्तिनः। यथाशास्त्रं भोज्यो हेयश्चेति वैदिकाः। इत्थमीश्वरमिवानेकविधं संसारं पश्यन्ति विप्रतिपत्तारः। अतो वदयत्युपनिषद्धहो भूत्वा देवानवहदित्यादि। अनेन संसारस्य परमगहनत्वं सूचितं भवति। अतः सावधानतया सूक्ष्मविचारेण च मीमांसनीयोऽयं संसार इत्युपदिश्यते॥

इस प्रकार उपरिष्ठ उपदेश देते हुए इस संसार को आनंदरूप होने से आनन्द बतलाते हैं। वैदिक लोग वेदानुसार इस संसार को भोज्य और हेय दोनों कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर के समान ही इस संसार को भी अनेक विध देखते हैं जो लोग विविध संशय और तर्क वितर्क करनेहारे हैं, इसी हेतु स्वयं उपनिषद् कहेगी 'हयो भूत्वा' इत्यादि। इस हेतु सावधानता से सूक्ष्म विचार के द्वारा यह संसार मीमांसनीय है यह उपदेश होता है।

॥ इति पण्डित शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ' विरचितया बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यम्॥

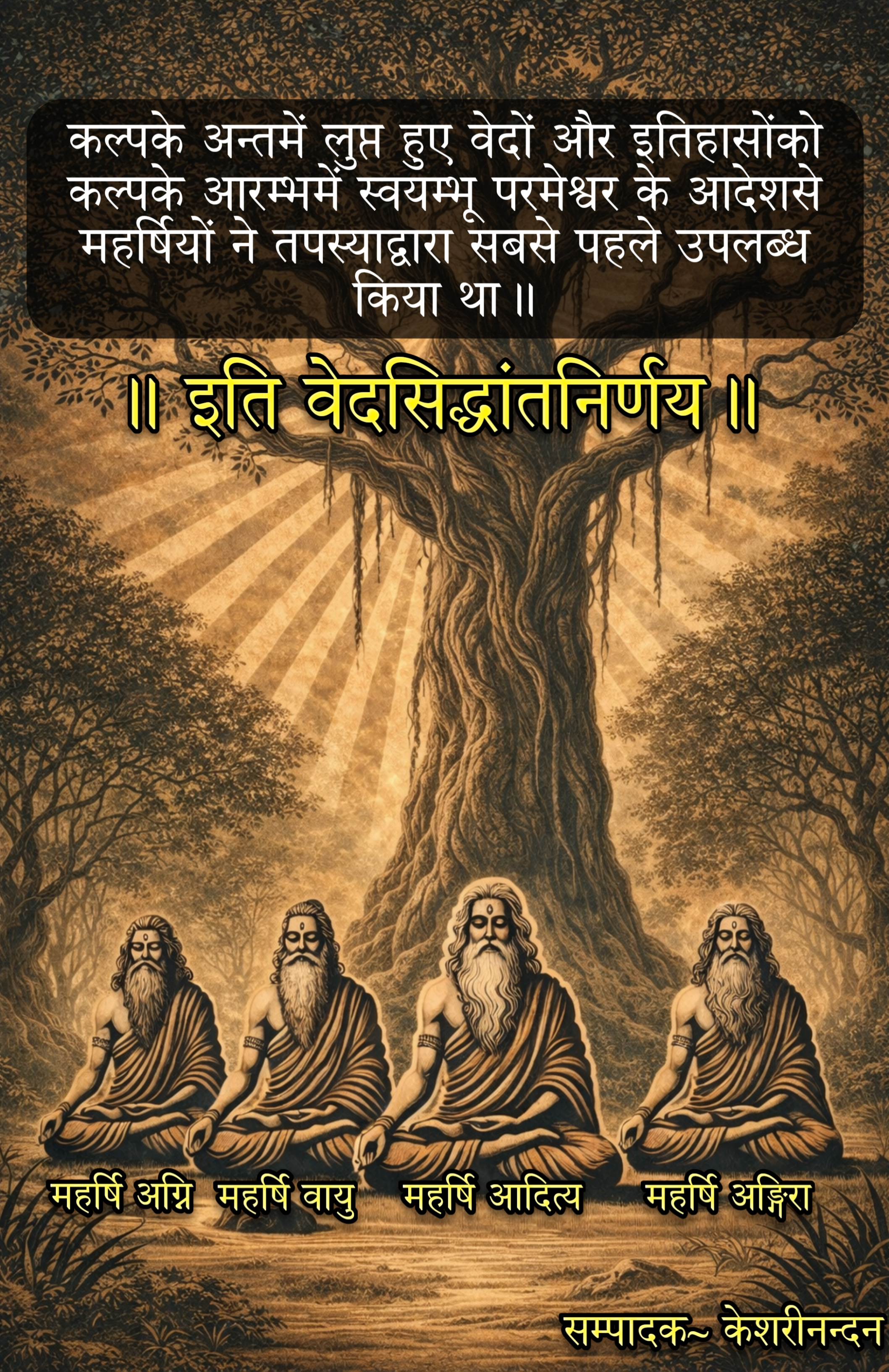
कल्पके अन्तमें लुप्त हुए वेदों और इतिहासोंको कल्पके आरम्भमें स्वयम्भू परमेश्वर के आदेशसे महर्षियों ने तपस्याद्वारा सबसे पहले उपलब्ध किया था ॥
॥ इति वेदसिद्धांतनिर्णय ॥
महर्षि अग्नि
महर्षि वायु
महर्षि आदित्य
महर्षि अङ्गिरा
सम्पादक~ केशरीनन्दन